# Shri Hari Gita Hindi

# श्री हरि गीता हिन्दी

## Document Information

Text title : Shri hari Gita Hindi

File name : harigita.itx

Category : gItA, giitaa, bhagavadgita, hindi

Location : doc_z_otherlang_hindi

Author : Gitavachaspati Pandit Dinanath Bhargava Dinesh

Transliterated by : Shree

Description-comments : Shri Hari Gita is the melodious, simple and poetical hindi translation of Shrimad Bhagwad Gita

Source : Manav Dharam Karyalaya (1933)

Latest update : April 3, 2020

Send corrections to : sanskrit@cheerful.com

This text is prepared by volunteers and is to be used for personal study and research. The file is not to be copied or reposted without permission, for promotion of any website or individuals or for commercial purpose.

**Please help to maintain respect for volunteer spirit.**

Please note that proofreading is done using Devanagari version and other language/scripts are generated using **sanscript**.

December 17, 2022

*sanskritdocuments.org*

# श्री हरि गीता हिन्दी

## हरिगीता अध्याय १

पहला अध्याय

राजा धृतराष्ट्र ने कहा -
रण- लालसा से धर्म- भू, कुरुक्षेत्र में एकत्र हो ।
मेरे सुतों ने, पाण्डवों ने क्या किया संजय कहो ॥ १। १॥

संजय ने कहा -
तब देखकर पाण्डव- कटक को व्यूह- रचना साज से ।
इस भाँति दुर्योधन वचन कहने लगे गुरुराज से ॥ १। २॥

आचार्य महती सैन्य सारी, पाण्डवों की देखिये ।
तव शिष्य बुधवर द्रुपद- सुत ने दल सभी व्यूहित किये ॥ १। ३॥

भट भीम अर्जुन से अनेकों शूर श्रेष्ठ धनुर्धरे ।
सात्यिक द्रुपद योद्धा विराट महारथी रणबांकुरे ॥ १। ४॥

काशी नृपति भट धृष्टकेतु व चेकितान नरेश हैं ।
श्री कुन्तिभोज महान पुरुजित शैब्य वीर विशेष हैं ॥ १। ५॥

श्री उत्तमौजा युधामन्यु, पराक्रमी वरवीर हैं ।
सौभद्र, सारे द्रौपदेय, महारथी रणधीर हैं ॥ १। ६॥

द्विजराज! जो अपने कटक के श्रेष्ठ सेनापति सभी ।
सुन लीजिये मैं नाम उनके भी सुनाता हूँ अभी ॥ १। ७॥

हैं आप फिर श्रीभीष्म, कर्ण, अजेय कृप रणधीर हैं ।
भूरिश्रवा गुरुपुत्र और विकर्ण से बलवीर हैं ॥ १। ८॥

रण साज सारे निपुण शूर अनेक ऐसे बल भरे ।
मेरे लिये तय्यार हैं, जीवन हथेली पर धरे ॥ १। ९॥

श्री भीष्म- रक्षित है नहीं, पर्याप्त अपना दल बड़ा ।
पर भीम- रक्षा में उधर, पर्याप्त उनका दल खड़ा ॥ १। १०॥

इस हेतु निज- निज मोरचों पर, वीर पूरा बल धरें ।
सब ओर चारों छोर से, रक्षा पितामह की करें ॥ १। ११॥

कुरुकुल- पितामह तब नृपति- मन मोद से भरने लगे ।
कर विकट गर्जन सिंह- सी, निज शङ्ख- ध्वनि करने लगे ॥ १। १२॥

फिर शंख भेरी ढोल आनक गोमुखे चहुँ ओर से ।
सब युद्ध बाजे एक दम बजने लगे ध्वनि घोर से ॥ १। १३॥

तब कृष्ण अर्जुन श्वेत घोड़ों से सजे रथ पर चढ़े ।
निज दिव्य शंखों को बजाते वीरवर आगे बढ़े ॥ १। १४॥

श्रीकृष्ण अर्जुन 'पाञ्चजन्य' व 'देवदत्त' गुंजा उठे ।
फिर भीमकर्मा भीम 'पौण्ड्र' निनाद करने में जुटे ॥ १। १५॥

करने लगे ध्वनि नृप युधिष्ठिर, निज 'अनन्तविजय' लिये ।
गुंजित नकुल सहदेव ने सु- 'सुघोष' 'मणिपुष्पक' किये ॥ १। १६॥

काशीनरेश विशाल धनुधारी, शिखण्डी वीर भी ।
भट धृष्टद्युम्न, विराट, सात्यकि, श्रेष्ठ योधागण सभी । १। १७॥

सब द्रौपदी के सुत, द्रुपद, सौभद्र बल भरने लगे ।
चहुँ ओर राजन्! वीर निज- निज शङ्ख- ध्वनि करने लगे ॥ १। १८॥

वह घोर शब्द विदीर्ण सब कौरव- हृदय करने लगा ।
चहुँ ओर गूंज वसुन्धरा आकाश में भरने लगा ॥ १। १९॥

सब कौरवों को देख रण का साज सब पूरा किये ।
शस्त्रादि चलने के समय अर्जुन कपिध्वज धनु लिये ॥ १। २०॥

श्रीकृष्ण से कहने लगे आगे बढ़ा रथ लीजिये ।
दोनों दलों के बीच में अच्युत! खड़ा कर दीजिये ॥ १। २१॥

करलूं निरीक्षण युद्ध में जो जो जुडे रणधीर हैं ।
इस युद्ध में माधव! मुझे जिन पर चलने तीर हैं ॥ १। २२॥

मैं देख लूं रण हेतु जो आये यहाँ बलवान् हैं ।
जो चाहते दुर्बुद्धि दुर्योधन- कुमति- कल्याण हैं ॥ १। २३॥

संजय ने कहा --
श्रीकृष्ण ने जब गुडाकेश- विचार, भारत! सुन लिया ।
दोनों दलों के बीच में जाकर खड़ा रथ को किया ॥ १। २४॥

राजा, रथी, श्रीभीष्म, द्रोणाचार्य के जा सामने ।
लो देखलो! कौरव कटक, अर्जुन! कहा भगवान् ने ॥ १। २५॥

तब पार्थ ने देखा वहाँ, सब हैं स्वजन बूढ़े बड़े ।
आचार्य भाई पुत्र मामा, पौत्र प्रियजन हैं खड़े ॥ १। २६॥

स्नेही ससुर देखे खड़े, कौन्तेय ने देखा जहाँ ।
दोनों दलों में देखकर, प्रिय बन्धु बान्धव हो वहाँ ॥ १। २७॥

कहने लगे इस भाँति तब, होकर कृपायुत खिन्न से ।
हे कृष्ण! रण में देखकर, एकत्र मित्र अभिन्न- से ॥ १। २८॥

होते शिथिल हैं अङ्ग सारे, सूख मेरा मुख रहा ।
तन काँपता थर- थर तथा रोमाञ्च होता है महा ॥ १। २९॥

गाण्डीव गिरता हाथ से, जलता समस्त शरीर है ।
मैं रह नहीं पाता खड़ा, मन भ्रमित और अधीर है ॥ १। ३०॥

केशव! सभी विपरीत लक्षण दिख रहे, मन म्लान है ।
रण में स्वजन सब मारकर, दिखता नहीं कल्याण है ॥ १। ३१॥

इच्छा नहीं जय राज्य की है, व्यर्थ ही सुख भोग है ।
गोविन्द! जीवन राज्य- सुख का क्या हमें उपयोग है ॥ १। ३२॥

जिनके लिये सुख- भोग सम्पति राज्य की इच्छा रही ।
लड़ने खड़े हैं आश तज धन और जीवन की वही ॥ १। ३३॥

आचार्यगण, मामा, पितामह, सुत, सभी बूढे बड़े ।
साले, ससुर, स्नेही, सभी प्रिय पौत्र सम्बन्धी खड़े ॥ १। ३४॥

क्या भूमि, मधुसूदन! मिले त्रैलोक्य का यदि राज्य भी ।
वे मारलें पर शस्त्र मैं उन पर न छोड़ूँगा कभी ॥ १। ३५॥

इनको जनार्दन मारकर होगा हमें संताप ही ।
हैं आततायी मारने से पर लगेगा पाप ही ॥ १। ३६॥

माधव! उचित वध है न इनका बन्धु हैं अपने सभी ।
निज बन्धुओं को मारकर क्या हम सुखी होंगे कभी ॥ १। ३७॥

मति मन्द उनकी लोभ से, दिखता न उनको आप है ।
कुल- नाश से क्या दोष, प्रिय- जन- द्रोह से क्या पाप है ॥ १। ३८॥

कुल- नाश दोषों का जनार्दन! जब हमें सब ज्ञान है ।
फिर क्यों न ऐसे पाप से बचना भला भगवान है ॥ १। ३९॥

कुल नष्ट होते भ्रष्ट होता कुल- सनातन- धर्म है ।
जब धर्म जाता आ दबाता पाप और अधर्म है ॥ १। ४०॥

जब वृद्धि होती पाप की कुल की बिगड़ती नारियाँ ।
हे कृष्ण! फलती फूलती तब वर्णसंकर क्यारियाँ ॥ १। ४१॥

कुलघातकी को और कुल को ये गिराते पाप में ।
होता न तर्पण पिण्ड यों पड़ते पितर संताप में ॥ १। ४२॥

कुलघातकों के वर्णसंकर- कारकी इस पाप से ।
सारे सनातन, जाति, कुल के धर्म मिटते आप से ॥ १। ४३॥

इस भाँति से कुल- धर्म जिनके कृष्ण होते भ्रष्ट हैं ।
कहते सुना है वे सदा पाते नरक में कष्ट हैं ॥ १। ४४॥

हम राज्य सुख के लोभ से हा! पाप यह निश्चय किये ।
उद्यत हुए सम्बन्धियों के प्राण लेने के लिये ॥ १। ४५॥

यह ठीक हो यदि शस्त्र ले मारें मुझे कौरव सभी ।
निःशस्त्र हो मैं छोड़ दूँ करना सभी प्रतिकार भी ॥ १। ४६॥

संजय ने कहा - -
रणभूमि में इस भाँति कहकर पार्थ धनु- शर छोड़के ।
अति शोक से व्याकुल हुए बैठे वहीँ मुख मोड़के ॥ १। ४७॥

पहला अध्याय समाप्त हुआ ॥ १॥

## हरिगीता अध्याय २

दूसरा अध्याय

संजय ने कहा --
ऐसे कृपायुत अश्रुपूरित दुःख से दहते हुए ।
कौन्तेय से इस भांति मधुसूदन वचन कहते हुए॥ २। १॥

श्रीभगवान् ने कहा --
अर्जुन! तुम्हें संकट- समय में क्यों हुआ अज्ञान है ।
यह आर्य- अनुचित और नाशक स्वर्ग, सुख, सम्मान है ॥ २। २॥

अनुचित नपुंसकता तुम्हें हे पार्थ! इसमें मत पड़ो ।
यह क्षुद्र कायरता परंतप! छोड़ कर आगे बढ़ो ॥ २। ३॥

अर्जुन ने कहा --
किस भाँति मधुसूदन! समर में भीष्म द्रोणाचार्य पर ।
मैं बाण अरिसूदन चलाऊँ वे हमारे पूज्यवर ॥ २। ४॥

भगवन्! महात्मा गुरुजनों का मारना न यथेष्ट है ।
इससे जगत् में मांग भिक्षा पेट- पालन श्रेष्ठ है ॥ २। ५॥

इन गुरुजनों को मार कर, जो अर्थलोलुप हैं बने ॥।

उनके रुधिर से ही सने, सुख- भोग होंगे भोगने ॥ २। ५॥

जीते उन्हें हम या हमें वे, यह न हमको ज्ञात है ।
यह भी नहीं हम जानते, हितकर हमें क्या बात है ॥ २। ६॥

जीवित न रहना चाहते हम, मार कर रण में जिन्हें ॥।

धृतराष्ट्र- सुत कौरव वही, लड़ने खड़े हैं सामने .. .. २। ६॥

कायरपने से हो गया सब नष्ट सत्य- स्वभाव है ।
मोहित हुई मति ने भुलाया धर्म का भी भाव है ॥
आया शरण हूँ आपकी मैं शिष्य शिक्षा दीजिये ॥

निश्चित कहो कल्याणकारी कर्म क्या मेरे लिये ॥ २। ७॥

धन- धान्य- शाली राज्य निष्कंटक मिले संसार में ।
स्वामित्व सारे देवताओं का मिले विस्तार में ॥
कोई कहीं साधन मुझे फिर भी नहीं दिखता अहो ॥

जिससे कि इन्द्रिय- तापकारी शोक सारा दूर हो ॥ २। ८॥

संजय ने कहा - -
इस भाँति कहकर कृष्ण से, राजन! 'लडूंगा मैं नहीं' ।
ऐसे वचन कह गुडाकेश अवाच्य हो बैठे वहीं ॥ २। ९॥

उस पार्थ से, रण- भूमि में जो, दुःख से दहने लगे ।
हँसते हुए से हृषीकेश तुरन्त यों कहने लगे ॥ २। १०॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
निःशोच्य का कर शोक कहता बात प्रज्ञावाद की ।
जीते मरे का शोक ज्ञानीजन नहीं करते कभी ॥ २। ११॥

मैं और तू राजा सभी देखो कभी क्या थे नहीं ।
यह भी असम्भव हम सभी अब फिर नहीं होंगे कहीं ॥ २। १२॥

ज्यों बालपन, यौवन जरा इस देह में आते सभी ।
त्यों जीव पाता देह और, न धीर मोहित हों कभी ॥ २। १३॥

शीतोष्ण या सुख- दुःख- प्रद कौन्तेय! इन्द्रिय- भोग हैं ।
आते व जाते हैं सहो सब नाशवत संयोग हैं ॥ २। १४॥

नर श्रेष्ठ! वह नर श्रेष्ठ है इनसे व्यथा जिसको नहीं ।
वह मोक्ष पाने योग्य है सुख दुख जिसे सम सब कहीं ॥ २। १५॥

जो है असत् रहता नहीं, सत् का न किन्तु अभाव है ।
लखि अन्त इनका ज्ञानियों ने यों किया ठहराव है ॥ २। १६॥

यह याद रख अविनाशि है जिसने किया जग व्याप है ।
अविनाशि का नाशक नहीं कोई कहीं पर्याप है ॥ २। १७॥

इस देह में आत्मा अचिन्त्य सदैव अविनाशी अमर ।
पर देह उसकी नष्ट होती अस्तु अर्जुन! युद्ध कर ॥ २। १८॥

है जीव मरने मारनेवाला यही जो मानते ।
यह मारता मरता नहीं दोनों न वे जन जानते ॥ २। १९॥

मरता न लेता जन्म, अब है, फिर यहीं होगा कहीं ।
शाश्वत, पुरातन, अज, अमर, तन वध किये मरता नहीं ॥ २। २०॥

अव्यय अजन्मा नित्य अविनाशी इसे जो जानता ।
कैसे किसी का वध कराता और करता है बता ॥ २। २१॥

जैसे पुराने त्याग कर नर वस्त्र नव बदलें सभी ।
यों जीर्ण तन को त्याग नूतन देह धरता जीव भी ॥ २। २२॥

आत्मा न कटता शस्त्र से है, आग से जलता नहीं ।
सूखे न आत्मा वायु से, जल से कभी गलता नहीं ॥ २। २३॥

छिद्ने न जलने और गलने सूखनेवाला कभी ।
यह नित्य निश्चल, थिर, सनातन और है सर्वत्र भी ॥ २। २४॥

इन्द्रिय पहुँच से है परे, मन- चिन्तना से दूर है ।
अविकार इसको जान, दुख में व्यर्थ रहना चूर है ॥ २। २५॥

यदि मानते हो नित्य मरता, जन्मता रहता यहीं ।
तो भी महाबाहो! उचित ऐसी कभी चिन्ता नहीं ॥ २। २६॥

जन्मे हुए मरते, मरे निश्चय जनम लेते कहीं ।
ऐसी अटल जो बात है उसकी उचित चिन्ता नहीं ॥ २। २७॥

अव्यक्त प्राणी आदि में हैं मध्य में दिखते सभी ।
फिर अन्त में अव्यक्त, क्या इसकी उचित चिन्ता कभी ॥ २। २८॥

कुछ देखते आश्चर्य से, आश्चर्यवत कहते कहीं ।
कोई सुने आश्चर्यवत, पहिचानता फिर भी नहीं ॥ २। २९॥

सारे शरीरों में अबध आत्मा न बध होता किये ।
फिर प्राणियों का शोक यों तुमको न करना चाहिये ॥ २। ३०॥

फिर देखकर निज धर्म, हिम्मत हारना अपकर्म है ।
इस धर्म- रण से बढ़ न क्षत्रिय का कहीं कुछ धर्म है ॥ २। ३१॥

रण स्वर्गरूपी द्वार देखो खुल रहा है आप से ।
यह प्राप्त होता क्षत्रियों को युद्ध भाग्य- प्रताप से ॥ २। ३२॥

तुम धर्म के अनुकूल रण से जो हटे पीछे कभी ।
निज धर्म खो अपकीर्ति लोगे और लोगे पाप भी ॥ २। ३३॥

अपकीर्ति गायेंगे सभी फिर इस अमिट अपमान से ।
अपकीर्ति, सम्मानित पुरुष को अधिक प्राण- पयान से ॥ २। ३४॥

' रण छोड़कर डर से भगा अर्जुन' कहेंगे सब यही ।
सम्मान करते वीरवर जो, तुच्छ जानेंगे वही ॥ २। ३५॥

कहने न कहने की खरी खोटी कहेंगे रिपु सभी ।
सामर्थ्य- निन्दा से घना दुख और क्या होगा कभी ॥ २। ३६॥

जीते रहे तो राज्य लोगे, मर गये तो स्वर्ग में ।
इस भाँति निश्चय युद्ध का करके उठो अरिवर्ग में । २। ३७॥

जय- हार, लाभालाभ, सुख- दुख सम समझकर सब कहीं ।
फिर युद्ध कर तुझको धनुर्धर ! पाप यों होगा नहीं । २। ३८॥

है सांख्य का यह ज्ञान अब सुन योग का शुभ ज्ञान भी ।
हो युक्त जिससे कर्म- बन्धन पार्थ छुटेंगे सभी ॥ २। ३९॥

आरम्भ इसमें है अमिट यह विघ्न बाधा से परे ।
इस धर्म का पालन तनिक भी सर्व संकट को हरे ॥ २। ४०॥

इस मार्ग में नित निश्चयात्मक- बुद्धि अर्जुन एक है ।
बहु बुद्धियाँ बहु भेद- युत उनकी जिन्हें अविवेक है ॥ २। ४१॥

जो वेदवादी, कामनाप्रिय, स्वर्गइच्छुक, मूढ हैं ।
' अतिरिक्त इसके कुछ नहीं' बातें बढ़ाकर यों कहें ॥ २। ४२॥

नाना क्रिया विस्तारयुत, सुख- भोग के हित सर्वदा ।
जिस जन्मरूपी कर्म- फल- प्रद बात को कहते सदा ॥ २। ४३॥

उस बात से मोहित हुए जो भोग- वैभव- रत सभी ।
व्यवसाय बुद्धि न पार्थ ! उनकी हो समाधिस्थित कभी ॥ २। ४४॥

हैं वेद त्रिगुणों के विषय, तुम गुणातीत महान हो !
तज योग क्षेम व द्वन्द्व नित सत्त्वस्थ आत्मावान् हो ॥ २। ४५॥

सब ओर करके प्राप्त जल, जितना प्रयोजन कूप का ।
उतना प्रयोजन वेद से, विद्वान ब्राह्मण का सदा ॥ २। ४६॥

अधिकार केवल कर्म करने का, नहीं फल में कभी ।
होना न तू फल- हेतु भी, मत छोड़ देना कर्म भी ॥ २। ४७॥

आसक्ति सब तज सिद्धि और असिद्धि मान समान ही ।
योगस्थ होकर कर्म कर, है योग समता- ज्ञान ही ॥ २। ४८॥

इस बुद्धियोग महान से सब कर्म अतिशय हीन हैं ।

इस बुद्धि की अर्जुन! शरण लो चाहते फल दीन हैं ॥ २। ४९॥

जो बुद्धि- युत है पाप- पुण्यों में न पड़ता है कभी ।
बन योग- युत, है योग ही यह कर्म में कौशल सभी ॥ २। ५०॥

नित बुद्धि- युत हो कर्म के फल त्यागते मतिमान हैं ।
वे जन्म- बन्धन तोड़ पद पाते सदैव महान हैं ॥ २। ५१॥

इस मोह के गंदले सलिल से पार मति होगी जभी ।
वैराग्य होगा सब विषय में जो सुना सुनना अभी ॥ २। ५२॥

श्रुति- भ्रान्त बुद्धि समाधि में निश्चल अचल होगी जभी ।
हे पार्थ! योग समत्व होगा प्राप्त यह तुझको तभी ॥ २। ५३॥

अर्जुन ने कहा - -
केशव! किसे दृढ़- प्रज्ञजन अथवा समाधिस्थित कहें ।
थिर- बुद्धि कैसे बोलते, बैठें, चलें, कैसे रहें ॥ २। ५४॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
हे पार्थ! मन की कामना जब छोड़ता है जन सभी ।
हो आप आपे में मगन दृढ़- प्रज्ञ होता है तभी ॥ २। ५५॥

सुख में न चाह, न खेद जो दुख में कभी अनुभव करे ।
थिर- बुद्धि वह मुनि, राग एवं क्रोध भय से जो परे ॥ २। ५६॥

शुभ या अशुभ जो भी मिले उसमें न हर्ष न द्वेष ही ।
निःस्नेह जो सर्वत्र है, थिर- बुद्धि होता है वही ॥ २। ५७॥

हे पार्थ! ज्यों कछुआ समेते अङ्ग चारों छोर से ।
थिर- बुद्धि जब यों इन्द्रियाँ सिमटें विषय की ओर से ॥ २। ५८॥

होते विषय सब दूर हैं आहार जब जन त्यागता ।
रस किन्तु रहता, ब्रह्म को कर प्राप्त वह भी भागता ॥ २। ५९॥

कौन्तेय! करते यत्न इन्द्रिय- दमन हित विद्वान् हैं ।
मन किन्तु बल से खैंच लेती इन्द्रियाँ बलवान हैं ॥ २। ६०॥

उन इन्द्रियों को रोक, बैठे योगयुत मत्पर हुआ ।
आधीन जिसके इन्द्रियाँ, दृढ़प्रज्ञ वह नित नर हुआ ॥ २। ६१॥

चिन्तन विषय का, सङ्ग विषयों में बढ़ाता है तभी ।

फिर संग से हो कामना, हो कामना से क्रोध भी ॥ २। ६२॥

फिर क्रोध से है मोह, सुधि को मोह करता भ्रष्ट है ।
यह सुधि गए फिर बुद्धि विनशे, बुद्धि- विनशे नष्ट है ॥ २। ६३॥

पर राग- द्वेष- विहीन सारी इन्द्रियाँ आधीन कर ।
फिर भोग करके भी विषय, रहता सदैव प्रसन्न नर ॥ २। ६४॥

पाकर प्रसाद पवित्र जन के, दुःख कट जाते सभी ।
जब चित्त नित्य प्रसन्न रहता, बुद्धि दृढ होती तभी ॥ २। ६५॥

रहकर अयुक्त न बुद्धि उत्तम भावना होती कहीं ।
बिन भावना नहिं शांति और अशांति में सुख है नहीं ॥ २। ६६॥

सब विषय विचरित इन्द्रियों में, साथ मन जिसके रहे ।
वह बुद्धि हर लेती, पवन से नाव ज्यों जल में बहे ॥ २। ६७॥

चहुँ ओर से इन्द्रिय- विषय से, इन्द्रियाँ जब दूर ही ।
रहती हटीं जिसकी सदा, दृढ़- प्रज्ञ होता है वही ॥ २। ६८॥

सब की निशा तब जागता योगी पुरुष हे तात! है ।
जिसमें सभी जन जागते, ज्ञानी पुरुष की रात है ॥ २। ६९॥

सब ओर से परिपूर्ण जलनिधि में सलिल जैसे सदा ।
आकर समाता, किन्तु अविचल सिन्धु रहता सर्वदा ॥
इस भाँति ही जिसमें विषय जाकर समा जाते सभी ।
वह शांति पाता है, न पाता काम- कामी जन कभी ॥ २। ७०॥

सब त्याग इच्छा कामना, जो जन विचरता नित्य ही ।
मद और ममता हीन होकर, शांति पाता है वही ॥ २। ७१॥

यह पार्थ! ब्राह्मीस्थिति इसे पा नर न मोहित हो कभी ।
निर्वाण पद हो प्राप्त इसमें ठैर अन्तिम काल भी ॥ २। ७२॥

दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ २॥

## हरिगीता अध्याय ३

तीसरा अध्याय

अर्जुन ने कहा - -
यदि हे जनार्दन! कर्म से तुम बुद्धि कहते श्रेष्ठ हो ।
तो फिर भयंकर कर्म में मुझको लगाते क्यों कहो ॥ ३। १॥

उलझन भरे कह वाक्य, भ्रम- सा डालते भगवान् हो ।
वह बात निश्चय कर कहो जिससे मुझे कल्याण हो ॥ ३। २॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
पहले कही दो भाँति निष्ठा, ज्ञानियों की ज्ञान से ।
फिर योगियों की योग- निष्ठा, कर्मयोग विधान से ॥ ३। ३॥

आरम्भ बिन ही कर्म के निष्कर्म हो जाते नहीं ।
सब कर्म ही के त्याग से भी सिद्धि जन पाते नहीं ॥ ३। ४॥

बिन कर्म रह पाता नहीं कोई पुरुष पल भर कभी ।
हो प्रकृति- गुण आधीन करने कर्म पड़ते हैं सभी ॥ ३। ५॥

कर्मेंद्रियों को रोक जो मन से विषय- चिन्तन करे ।
वह मूढ पाखण्डी कहाता दम्भ निज मन में भरे ॥ ३। ६॥

जो रोक मन से इन्द्रियाँ आसक्ति बिन हो नित्य ही ।
कर्मेन्द्रियों से कर्म करता श्रेष्ठ जन अर्जुन! वही ॥ ३। ७॥

बिन कर्म से नित श्रेष्ठ नियमित- कर्म करना धर्म है ।
बिन कर्म के तन भी न सधता कर नियत जो कर्म है ॥ ३। ८॥

तज यज्ञ के शुभ कर्म, सारे कर्म बन्धन पार्थ! हैं ।
अतएव तज आसक्ति सब कर कर्म जो यज्ञार्थ हैं ॥ ३। ९॥

विधि ने प्रजा के साथ पहले यज्ञ को रच के कहा ।
पूरे करे यह सब मनोरथ, वृद्धि हो इससे महा ॥ ३। १०॥

मख से करो तुम तुष्ट सुरगण, वे करें तुमको सदा ।
ऐसे परस्पर तुष्ट हो, कल्याण पाओ सर्वदा ॥ ३। ११॥

मख तृप्त हो सुर कामना पूरी करेंगे नित्य ही ।
उनका दिया उनको न दे, जो भोगता तस्कर वही ॥ ३। १२॥

जो यज्ञ में दे भाग खाते पाप से छुट कर तरें ।
तन हेतु जो पापी पकाते पाप वे भक्षण करें ॥ ३। १३॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से हैं, अन्न होता वृष्टि से ।
यह वृष्टि होती यज्ञ से, जो कर्म की शुभ सृष्टि से ॥ ३। १४॥

फिर कर्म होते ब्रह्म से हैं, ब्रह्म अक्षर से कहा ।
यों यज्ञ में सर्वत्र- व्यापी ब्रह्म नित ही रम रहा ॥ ३। १५॥

चलता न जो इस भाँति चलते चक्र के अनुसार है ।
पापायु इन्द्रियलम्पटी वह व्यर्थ ही भू- भार है ॥ ३। १६॥

जो आत्मरत रहता निरन्तर, आत्म- तृप्त विशेष है ।
संतुष्ट आत्मा में, उसे करना नहीं कुछ शेष है ॥ ३। १७॥

उसको न कोई लाभ है करने न करने से कहीं ।
हे पार्थ! प्राणीमात्र से उसको प्रयोजन है नहीं ॥ ३। १८॥

अतएव तज आसक्ति, कर कर्तव्य कर्म सदैव ही ।
यों कर्म जो करता परम पद प्राप्त करता है वही ॥ ३। १९॥

जनकादि ने भी सिद्धि पाई कर्म ऐसे ही किये ।
फिर लोकसंग्रह देख कर भी कर्म करना चाहिये ॥ ३। २०॥

जो कार्य करता श्रेष्ठ जन करते वही हैं और भी ।
उसके प्रमाणित- पंथ पर ही पैर धरते हैं सभी ॥ ३। २१॥

अप्राप्त मुझको कुछ नहीं, जो प्राप्त करना हो अभी ।
त्रैलोक्य में करना न कुछ, पर कर्म करता मैं सभी ॥ ३। २२॥

आलस्य तजके पार्थ! मैं यदि कर्म में वरतूँ नहीं ।
सब भाँति मेरा अनुकरण ही नर करेंगे सब कहीं ॥ ३। २३॥

यदि छोड़ दूँ मैं कर्म करना, लोक सारा भ्रष्ट हो ।
मैं सर्व संकर का बनूँ कर्ता, सभी जग नष्ट हो ॥ ३। २४॥

ज्यों मूढ मानव कर्म करते नित्य कर्मासक्त हो ।
यों लोकसंग्रह- हेतु करता कर्म, विज्ञ विरक्त हो ॥ ३। २५॥

ज्ञानी न डाले भेद कर्मासक्त की मति में कभी ।
वह योग- युत हो कर्म कर, उनसे कराये फिर सभी ॥ ३। २६॥

होते प्रकृति के ही गुणों से सर्व कर्म विधान से ।
मैं कर्म करता, मूढ- मानव मानता अभिमान से ॥ ३। २७॥

गुण और कर्म विभाग के सब तत्त्व जो जन जानता ।
होता न वह आसक्त गुण का खेल गुण में मानता ॥ ३। २८॥

गुण कर्म में आसक्त होते प्रकृतिगुण मोहित सभी ।
उन मंद मूढ़ों को करे विचलित न ज्ञानी जन कभी ॥ ३। २९॥

अध्यात्म- मति से कर्म अर्पण कर मुझे आगे बढ़ो ।
फल- आश ममता छोड़कर निश्चिन्त होकर फिर लड़ो ॥ ३। ३०॥

जो दोष- बुद्धि विहीन मानव नित्य श्रद्धायुक्त हैं ।
मेरे सुमत अनुसार करके कर्म वे नर मुक्त हैं ॥ ३। ३१॥

जो दोष- दर्शी मूढ़मति मत मानते मेरा नहीं ।
वे सर्वज्ञान- विमूढ़ नर नित नष्ट जानों सब कहीं ॥ ३। ३२॥

वर्ते सदा अपनी प्रकृति अनुसार ज्ञान- निधान भी ।
निग्रह करेगा क्या, प्रकृति अनुसार हैं प्राणी सभी ॥ ३। ३३॥

अपने विषय में इन्द्रियों को राग भी है द्वेष भी ।
ये शत्रु हैं, वश में न इनके चाहिये आना कभी ॥ ३। ३४॥

ऊँचे सुलभ पर- धर्म से निज विगुण धर्म महान् है ।
परधर्म भयप्रद, मृत्यु भी निज धर्म में कल्याण है ॥ ३। ३५॥

अर्जुन ने कहा - -
भगवन्! कहो करना नहीं नर चाहता जब आप है ।
फिर कौन बल से खींच कर उससे कराता पाप है ॥ ३। ३६॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
पैदा रजोगुण से हुआ यह काम ही यह क्रोध ही ।
पेटू महापापी कराता पाप है वैरी यही ॥ ३। ३७॥

ज्यों गर्भ झिल्ली से, धुएँ से आग, शीशा धूल से ।
यों काम से रहता ढका है, ज्ञान भी ( आमूल) से ॥ ३। ३८॥

यह काम शत्रु महान्, नित्य अतृप्त अग्नि समान है ।
इससे ढका कौन्तेय! सारे ज्ञानियों का ज्ञान है ॥ ३। ३९॥

मन, इन्द्रियों में, बुद्धि में यह वास वैरी नित करे ।

इनके सहारे ज्ञान ढक, जीवात्म को मोहित करे ॥ ३। ४०॥

इन्द्रिय- दमन करके करो फिर नाश शत्रु महान् का ।
पापी सदा यह नाशकारी ज्ञान का विज्ञान का ॥ ३। ४१॥

हैं श्रेष्ठ इन्द्रिय, इन्द्रियों से पार्थ! मन मानो परे ।
मन से परे फिर बुद्धि, आत्मा बुद्धि से जानो परे ॥ ३। ४२॥

यों बुद्धि से आत्मा परे है जान इसके ज्ञान को ।
मन वश्य करके जीत दुर्जय काम शत्रु महान् को ॥ ३। ४३॥

तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ३॥

## हरिगीता अध्याय ४

चौथा अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा - -
मैंने कहा था सूर्य के प्रति योग यह अव्यय महा ।
फिर सूर्य ने मनु से कहा इक्ष्वाकु से मनु ने कहा ॥ ४। १॥

यों राजऋषि परिचित हुए सुपरम्परागत योग से ।
इस लोक में वह मिट गया बहु काल के संयोग से ॥ ४। २॥

मैंने समझकर यह पुरातन योग- श्रेष्ठ रहस्य है ।
तुझसे कहा सब क्योंकि तू मम भक्त और वयस्य है ॥ ४। ३॥

अर्जुन ने कहा - -
पैदा हुए थे सूर्य पहले आप जन्मे हैं अभी ।
मैं मानलूं कैसे कहा यह आपने उनसे कभी ॥ ४। ४॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
मैं और तू अर्जुन! अनेकों बार जन्मे हैं कहीं ।
सब जानता हूँ मैं परंतप! ज्ञान तुझको है नहीं ॥ ४। ५॥

यद्यपि अजन्मा, प्राणियों का ईश मैं अव्यय परम् ।
पर निज प्रकृति आधीन कर, लूं जन्म माया से स्वयम् ॥ ४। ६॥

हे पार्थ! जब जब धर्म घटता और बढ़ता पाप ही ।
तब तब प्रकट मैं रूप अपना नित्य करता आप ही ॥ ४। ७॥

सज्जन जनों का त्राण करने दुष्ट- जन- संहार- हित ।
युग- युग प्रकट होता स्वयं मैं, धर्म के उद्धार हित ॥ ४। ८॥

जो दिव्य मेरा जन्म कर्म रहस्य से सब जान ले ।
मुझमें मिले तन त्याग अर्जुन! फिर न वह जन जन्म ले ॥ ४। ९॥

मन्मय ममाश्रित जन हुए भय क्रोध राग- विहीन हैं ।
तप यज्ञ से हो शुद्ध बहु मुझमें हुए लवलीन हैं ॥ ४। १०॥

जिस भाँति जो भजते मुझे उस भाँति दूं फल- भोग भी ।
सब ओर से ही वर्तते मम मार्ग में मानव सभी ॥ ४। ११॥

इस लोक में करते फलेच्छुक देवता- आराधना ।
तत्काल होती पूर्ण उनकी कर्म फल की साधना ॥ ४। १२॥

मैंने बनाये कर्म गुण के भेद से चहुँ वर्ण भी ।
कर्ता उन्हों का जान तू, अव्यय अकर्ता मैं सभी ॥ ४। १३॥

फल की न मुझको चाह बँधता मैं न कर्मों से कहीं ।
यों जानता है जो मुझे वह कर्म से बँधता नहीं ॥ ४। १४॥

यह जान कर्म मुमुक्षपुरुषों ने सदा पहले किये ।
प्राचीन पूर्वज- कृत करो अब कर्म तुम इस ही लिये ॥ ४। १५॥

क्या कर्म और अकर्म है भूले यही विद्वान् भी ।
जो जान पापों से छुटो, वह कर्म कहता हूँ सभी ॥ ४। १६॥

हे पार्थ! कर्म अकर्म और विकर्म का क्या ज्ञान है ।
यह जान लो सब, कर्म की गति गहन और महान् है ॥ ४। १७॥

जो कर्म में देखे अकर्म, अकर्म में भी कर्म ही ।
है योग- युत ज्ञानी वही, सब कर्म करता है वही ॥ ४। १८॥

ज्ञानी उसे पंडित कहें उद्योग जिसके हों सभी ।
फल- वासना बिन, भस्म हों ज्ञानाग्नि में सब कर्म भी ॥ ४। १९॥

जो है निराश्रय तृप्त नित, फल कामनाएँ तज सभी ।
वह कर्म सब करता हुआ, कुछ भी नहीं करता कभी ॥ ४। २०॥

जो कामना तज, सर्वसंग्रह त्याग, मन वश में करे ।

केवल करे जो कर्म दैहिक, पाप से है वह परे ॥ ४। २१॥

बिन द्वेष द्वन्द्व असिद्धि सिद्धि समान हैं जिसको सभी ।
जो है यदृच्छा- लाभ- तृप्त न बद्ध वह कर कर्म भी ॥ ४। २२॥

चित ज्ञान में जिनका सदा जो मुक्त संग- विहीन हों ।
यज्ञार्थ करते कर्म उनके सर्व कर्म विलीन हों ॥ ४। २३॥

मख ब्रह्म से, ब्रह्माग्नि से, हवि ब्रह्म, अर्पण ब्रह्म है ।
सब कर्म जिसको ब्रह्म, करता प्राप्त वह जन ब्रह्म है ॥ ४। २४॥

योगी पुरुष कुछ दैव- यज्ञ उपासना में मन धरें ।
ब्रह्माग्नि में कुछ यज्ञ द्वारा यज्ञ ज्ञानी जन करें ॥ ४। २५॥

कुछ होंमते श्रोत्रादि इन्द्रिय संयमों की आग में ।
इन्द्रिय- अनल में कुछ विषय शब्दादि आहुति दे रमें ॥ ४। २६॥

कर आत्म- संयमरूप योगानल प्रदीप्त सुज्ञान से ।
कुछ प्राण एवं इन्द्रियों के कर्म होमें ध्यान से ॥ ४। २७॥

कुछ संयमी जन यज्ञ करते योग, तप से, दान से ।
स्वाध्याय से करते यती, कुछ यज्ञ करते ज्ञान से ॥ ४। २८॥

कुछ प्राण में होमें अपान व प्राणवायु अपान में ।
कुछ रोक प्राण अपान प्राणायाम ही के ध्यान में ॥ ४। २९॥

कुछ मिताहारी हवन करते, प्राण ही में प्राण हैं ।
क्षय पाप यज्ञों से किये, ये यज्ञ- विज्ञ महान् हैं ॥ ४। ३०॥

जो यज्ञ का अवशेष खाते, ब्रह्म को पाते सभी ।
परलोक तो क्या, यज्ञ- त्यागी को नहीं यह लोक भी । ४। ३१॥

बहु भाँति से यों ब्रह्म- मुख में यज्ञ का विस्तार है ।
होते सभी हैं कर्म से, यह जान कर निस्तार है ॥ ४। ३२॥

धन- यज्ञ से समझो सदा ही ज्ञान- यज्ञ प्रधान है ।
सब कर्म का नित ज्ञान में ही पार्थ! पर्यवसान है ॥ ४। ३३॥

सेवा विनय प्रणिपात पूर्वक प्रश्न पूछो ध्यान से ।
उपदेश देंगे ज्ञान का तब तत्त्व- दर्शी ज्ञान से ॥ ४। ३४॥

होगा नहीं फिर मोह ऐसे श्रेष्ठ शुद्ध विवेक से ।
तब ही दिखेंगे जीव मुझमें और तुझमें एक से ॥ ४। ३५॥

तेरा कहीं यदि पापियों से घोर पापाचार हो ।
इस ज्ञान नय्या से सहज में पाप सागर पार हो ॥ ४। ३६॥

ज्यों पार्थ! पावक प्रज्वलित ईंधन जलाती है सदा ।
ज्ञानाग्नि सारे कर्म करती भस्म यों ही सर्वदा ॥ ४। ३७॥

इस लोक में साधन पवित्र न और ज्ञान समान है ।
योगी पुरुष पाकर समय पाता स्वयं ही ज्ञान है ॥ ४। ३८॥

जो कर्म- तत्पर है जितेन्द्रिय और श्रद्धावान् है ।
वह प्राप्त करके ज्ञान पाता शीघ्र शान्ति महान् है ॥ ४। ३९॥

जिसमें न श्रद्धा ज्ञान, संशयवान डूबे सब कहीं ।
उसके लिये सुख, लोक या परलोक कुछ भी है नहीं ॥ ४। ४०॥

तज योग- बल से कर्म, काटे ज्ञान से संशय सभी ।
उस आत्म- ज्ञानी को न बांधे कर्म बन्धन में कभी ॥ ४। ४१॥

अज्ञान से जो भ्रम हृदय में, काट ज्ञान कृपान से ।
अर्जुन खड़ा हो युद्ध कर, हो योग आश्रित ज्ञान से ॥ ४। ४२॥

चौथा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ४॥

## हरिगीता अध्याय ५

पाँचवा अध्याय

अर्जुन ने कहा - -
कहते कभी हो योग को उत्तम कभी संन्यास को ।
के कृष्ण! निश्चय कर कहो वह एक जिससे श्रेय हो ॥ ५। १॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
संन्यास एवं योग दोनों मोक्षकारी हैं महा ।
संन्यास से पर कर्मयोग महान् हितकारी कहा ॥ ५। २॥

है नित्य संयासी न जिसमें द्वेष या इच्छा रही ।
तज द्वन्द्व सुख से सर्व बन्धन- मुक्त होता है वही ॥ ५। ३॥

है ' सांख्य' ' योग' विभिन्न कहते मूढ, नहिं पण्डित कहें ।
पाते उभय फल एक के जो पूर्ण साधन में रहें ॥ ५। ४॥

पाते सुगति जो सांख्य- ज्ञानी कर्म- योगी भी वही ।
जो सांख्य, योग समान जाने तत्त्व पहिचाने सही ॥ ५। ५॥

निष्काम- कर्म- विहीन हो, पान कठिन संन्यास है ।
मुनि कर्म- योगी शीघ्र करता ब्रह्म में ही वास है ॥ ५। ६॥

जो योग युत है, शुद्ध मन, निज आत्मयुत देखे सभी ।
वह आत्म- इन्द्रिय जीत जन, नहिं लिप्त करके कर्म भी ॥ ५। ७॥

तत्त्वज्ञ समझे युक्त मैं करता न कुछ खाता हुआ ।
पाता निरखता सूँघता सुनता हुआ जाता हुआ ॥ ५। ८॥

छूते व सोते साँस लेते छोड़ते या बोलते ।
वर्ते विषय में इन्द्रियाँ दृग बन्द करते खोलते ॥ ५। ९॥

आसक्ति तज जो ब्रह्म- अर्पण कर्म करता आप है ।
जैसे कमल को जल नहीं लगता उसे यों पाप है । ५। १०॥

मन, बुद्धि, तन से और केवल इन्द्रियों से भी कभी ।
तज संग, योगी कर्म करते आत्म- शोधन- हित सभी ॥ ५। ११॥

फल से सदैव विरक्त हो चिर- शान्ति पाता युक्त है ।
फल- कामना में सक्त हो बँधता सदैव अयुक्त है ॥ ५। १२॥

सब कर्म तज मन से जितेन्द्रिय जीवधारी मोद से ।
बिन कुछ कराये या किये नव- द्वार- पुर में नित बसे ॥ ५। १३॥

कतृत्व कर्म न, कर्म- फल- संयोग जगदीश्वर कभी ।
रचता नहीं अर्जुन! सदैव स्वभाव करता है सभी ॥ ५। १४॥

ईश्वर न लेता है किसी का पुण्य अथवा पाप ही ।
है ज्ञान माया से ढका यों जीव मोहित आप ही ॥ ५। १५॥

पर दूर होता ज्ञान से जिनका हृदय- अज्ञान है ।
करता प्रकाशित ' तत्त्व' उनका ज्ञान सूर्य समान है ॥ ५। १६॥

तन्निष्ठ तत्पर जो उसी में, बुद्धि मन धरते वहीं ।

वे ज्ञान से निष्पाप होकर जन्म फिर लेते नहीं ॥ ५। १७॥

विद्याविनय- युत- द्विज, श्वपच, चाहे गऊ, गज, श्वान है ।
सबके विषय में ज्ञानियों की दृष्टि एक समान है ॥ ५। १८॥

जो जन रखें मन साम्य में वे जीत लेते जग यहीं ।
पर ब्रह्म सम निर्दोष है, यों ब्रह्म में वे सब कहीं ॥ ५। १९॥

प्रिय वस्तु पा न प्रसन्न, अप्रिय पा न जो सुख- हीन है ।
निर्मोह दृढ- मति ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में लवलीन है ॥ ५। २०॥

नहिं भोग- विषयासक्त जो जन आत्म- सुख पाता वही ।
वह ब्रह्मयुत, अनुभव करे अक्षय महासुखनित्य ही ॥ ५। २१॥

जो बाहरी संयोग से हैं भोग दुखकारण सभी ।
है आदि उनका अन्त, उनमें विज्ञ नहिं रमते कभी ॥ ५। २२॥

जो काम- क्रोधावेग सहता है मरण पर्यन्त ही ।
संसार में योगी वही नर सुख सदा पाता वही ॥ ५। २३॥

जो आत्मरत अन्तः सुखी है ज्योति जिसमें व्याप्त है ।
वह युक्त ब्रह्म- स्वरूप हो निर्वाण करता प्राप्त है ॥ ५। २४॥

निष्पाप जो कर आत्म- संयम द्वन्द्व- बुद्धि- विहीन हैं ।
रत जीवहित में, ब्रह्म में होते वही जन लीन हैं ॥ ५। २५॥

यति काम क्रोध विहीन जिनमें आत्म- ज्ञान प्रधान है ।
जीता जिन्होंने मन उन्हें सब ओर ही निर्वाण है ॥ ५। २६॥

धर दृष्टि भृकुटी मध्य में तज बाह्य विषयों को सभी ।
नित नासिकाचारी किये सम प्राण और अपान भी ॥ ५। २७॥

वश में करे मन बुद्धि इन्द्रिय मोक्ष में जो युक्त है ।
भय क्रोध इच्छा त्याग कर वह मुनि सदा ही मुक्त है ॥ ५। २८॥

जाने मुझे तप यज्ञ भोक्ता लोक स्वामी नित्य ही ।
सब प्राणियों का मित्र जाने शान्ति पाता है वही ॥ ५। २९॥

पांचवा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ५॥

# हरिगीता अध्याय ६

छठा अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा - -
फल- आश तज, कर्तव्य कर्म सदैव जो करता, वही ।
योगी व संन्यासी, न जो बिन अग्नि या बिन कर्म ही ॥ ६। १॥

वह योग ही समझो जिसे संन्यास कहते हैं सभी ।
संकल्प के संन्यास बिन बनता नहीं योगी कभी ॥ ६। २॥

जो योग- साधन चाहता मुनि, हेतु उसका कर्म है ।
हो योग में आरूढ़, उसका हेतु उपशम धर्म है ॥ ६। ३॥

जब दूर विषयों से, न हो आसक्त कर्मों में कभी ।
संकल्प त्यागे सर्व, योगारूढ़ कहलाता तभी ॥ ६। ४॥

उद्धार अपना आप कर, निज को न गिरने दे कभी ।
वह आप ही है शत्रु अपना, आप ही है मित्र भी ॥ ६। ५॥

जो जीत लेता आपको वह बन्धु अपना आप ही ।
जाना न अपने को स्वयं रिपु सी करे रिपुता वही ॥ ६। ६॥

अति शान्त जन, मनजीत का आत्मा सदैव समान है ।
सुख- दुःख, शीतल- ऊष्ण अथवा मान या अपमान है ॥ ६। ७॥

कूटस्थ इन्द्रियजीत जिसमें ज्ञान है विज्ञान है ।
वह युक्त जिसको स्वर्ण, पत्थर, धूल एक समान है ॥ ६। ८॥

वैरी, सुहृद, मध्यस्थ, साधु, असाधु, जिनसे द्वेष है ।
बान्धव, उदासी, मित्र में सम बुद्धि पुरुष विशेष है ॥ ६। ९॥

चित- आत्म- संयम नित्य एकाकी करे एकान्त में ।
तज आश- संग्रह नित निरन्तर योग में योगी रमें ॥ ६। १०॥

आसन धरे शुचि- भूमि पर थिर, ऊँच नीच न ठौर हो ।
कुश पर बिछा मृगछाल, उस पर वस्त्र पावन और हो ॥ ६। ११॥

एकाग्र कर मन, रोक इन्द्रिय चित्त के व्यापार को ।
फिर आत्म- शोधन हेतु बैठे नित्य योगाचार को ॥ ६। १२॥

होकर अचल, दृढ़, शीश ग्रीवा और काया सम करे ।
दिशि अन्य अवलोके नहीं नासाग्र पर ही दृग धरे ॥ ६। १३॥

बन ब्रह्मचारी शान्त, मन- संयम करे भय- मुक्त हो ।
हो मत्परायण चित्त मुझमें ही लगाकर युक्त हो ॥ ६। १४॥

यों जो नियत- चित युक्त योगाभ्यास में रत नित्य ही ।
मुझमें टिकी निर्वाण परमा शांति पाता है वही ॥ ६। १५॥

यह योग अति खाकर न सधता है न अति उपवास से ।
सधता न अतिशय नींद अथवा जागरण के त्रास से ॥ ६। १६॥

जब युक्त सोना जागना आहार और विहार हों ।
हो दुःखहारी योग जब परिमित सभी व्यवहार हों ॥ ६। १७॥

संयत हुआ चित आत्म ही में नित्य रम रहता जभी ।
रहती न कोई कामना नर युक्त कहलाता तभी ॥ ६। १८॥

अविचल रहे बिन वायु दीपक- ज्योति जैसे नित्य ही ।
है चित्तसंयत योग- साधक युक्त की उपमा वही ॥ ६। १९॥

रमता जहाँ चित योग- सेवन से निरुद्ध सदैव है ।
जब देख अपने आपको संतुष्ट आत्मा में रहे ॥ ६। २०॥

इन्द्रिय- अगोचर बुद्धि- गम्य अनन्त सुख अनुभव करे ।
जिसमें रमा योगी न डिगता तत्त्व से तिल भर परे ॥ ६। २१॥

पाकर जिसे जग में न उत्तम लाभ दिखता है कहीं ।
जिसमें जमे जन को कठिन दुख भी डिगा पाता नहीं ॥ ६। २२॥

कहते उसे ही योग जिसमें सर्वदुःख वियोग है ।
दृढ़- चित्त होकर साधने के योग्य ही यह योग है ॥ ६। २३॥

संकल्प से उत्पन्न सारी कामनाएँ छोड़के ।
मनसे सदा सब ओर से ही इन्द्रियों को मोड़के ॥ ६। २४॥

हो शान्त क्रमशः धीर मति से आत्म- सुस्थिर मन करे ।
कोई विषय का फिर न किंचित् चित्त में चिन्तन करे ॥ ६। २५॥

यह मन चपल अस्थिर जहाँ से भाग कर जाये परे ।
रोके वहीं से और फिर आधीन आत्मा के करे ॥ ६। २६॥

जो ब्रह्मभूत, प्रशान्त- मन, जन रज- रहित निष्पाप है ।
उस कर्मयोगी को परम सुख प्राप्त होता आप है ॥ ६। २७॥

निष्पाप हो इस भाँति जो करता निरन्तर योग है ।
वह ब्रह्म- प्राप्ति- स्वरूप- सुख करता सदा उपभोग है ॥ ६। २८॥

युक्तात्म समदर्शी पुरुष सर्वत्र ही देखे सदा ।
मैं प्राणियों में और प्राणीमात्र मुझमें सर्वदा ॥ ६। २९॥

जो देखता मुझमें सभी को और मुझको सब कहीं ।
मैं दूर उस नर से नहीं वह दूर मुझसे है नहीं ॥ ६। ३०॥

एकत्व- मति से जान जीवों में मुझे नर नित्य ही ।
भजता रहे जो, सर्वथा कर कर्म मुझमें है वही ॥ ६। ३१॥

सुख- दुःख अपना और औरों का समस्त समान है ।
जो जानता अर्जुन! वही योगी सदैव प्रधान है ॥ ६। ३२॥

अर्जुन ने कहा - -
जो साम्य- मति से प्राप्य तुमने योग मधुसूदन! कहा ।
मन की चपलता से महा अस्थिर मुझे वह दिख रहा ॥ ६। ३३॥

हे कृष्ण! मन चञ्चल हठी बलवान् है दृढ़ है घना ।
मन साधना दुष्कर दिखे जैसे हवा का बाँधना ॥ ६। ३४॥

श्री भगवान् ने कहा - -
चंचल असंशय मन महाबाहो! कठिन साधन घना ।
अभ्यास और विराग से पर पार्थ! होती साधना ॥ ६। ३५॥

जीता न जो मन, योग है दुष्प्राप्य मत मेरा यही ।
मन जीत कर जो यत्न करता प्राप्त करता है वही ॥ ६। ३६॥

अर्जुन ने कहा - -
जो योग- विचलित यत्नहीन परन्तु श्रद्धावान् हो ।
वह योग- सिद्धि न प्राप्त कर, गति कौन सी पाता कहो? ६। ३७॥

मोहित निराश्रय, ब्रह्म- पथ में हो उभय पथ- भ्रष्ट क्या ।
वह बादलों- सा छिन्न हो, होता सदैव विनष्ट क्या ? ६। ३८॥

हे कृष्ण! करुणा कर सकल सन्देह मेरा मेटिये ।
तज कर तुम्हें है कौन यह भ्रम दूर करने के लिये ? ६। ३९॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
इस लोक में परलोक में वह नष्ट होता है नहीं ।
कल्याणकारी- कर्म करने में नहीं दुर्गति कहीं ॥ ६। ४०॥

शुभ लोक पाकर पुण्यवानों का, रहे वर्षों वहीं ।
फिर योग- विचलित जन्मता श्रीमान् शुचि के घर कहीं ॥ ६। ४१॥

या जन्म लेता श्रेष्ठ ज्ञानी योगियों के वंश में ।
दुर्लभ सदा संसार में है जन्म ऐसे अंश में ॥ ६। ४२॥

पाता वहाँ फिर पूर्व- मति- संयोग वह नर- रत्न है ।
उस बुद्धि से फिर सिद्धि के करता सदैव प्रयत्न है ॥ ६। ४३॥

हे पार्थ! पूर्वाभ्यास से खिंचता उधर लाचार हो ।
हो योग- इच्छुक वेद- वर्णित कर्म- फल से पार हो ॥ ६। ४४॥

अति यत्न से वह योगसेवी सर्वपाप- विहीन हो ।
बहु जन्म पीछे सिद्ध होकर परम गति में लीन हो ॥ ६। ४५॥

सारे तपस्वी। ज्ञानियों से, कर्मनिष्ठों से सदा ।
है श्रेष्ठ योगी, पार्थ! हो इस हेतु योगी सर्वदा ॥ ६। ४६॥

सब योगियों में मानता मैं युक्ततम योगी वही ।
श्रद्धा- सहित मम ध्यान धर भजता मुझे जो नित्य ही ॥ ६। ४७॥

छठा अध्याय समाप्त हुआ ॥ ६॥

## हरिगीता अध्याय ७

सातवां अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा - -
मुझमें लगा कर चित्त मेरे आसरे कर योग भी ।
जैसा असंशय पूर्ण जानेगा मुझे वह सुन सभी ॥ ७। १॥

विज्ञान- युत वह ज्ञान कहता हूँ सभी विस्तार में ।
जो जान कर कुछ जानना रहता नहीं संसार में ॥ ७। २॥

कोई सहस्त्रों मानवों में सिद्धि करना ठानता ।
उन यत्नशीलों में मुझे कोई यथावत् जानता ॥ ७। ३॥

पृथ्वी, पवन, जल, तेज, नभ, मन, अहंकार व बुद्धि भी ।
इन आठ भागों में विभाजित है प्रकृति मेरी सभी ॥ ७। ४॥

हे पार्थ! वह 'अपरा' प्रकृति का जान लो विस्तार है ।
फिर है 'परा' यह जीव जो संसार का आधार है ॥ ७। ५॥

उत्पन्न दोनों से इन्हीं से जीव हैं जग के सभी ।
मैं मूल सब संसार का हूँ और मैं ही अन्त भी ॥ ७। ६॥

मुझसे परे कुछ भी नहीं संसार का विस्तार है ।
जिस भांति माला में मणी, मुझमें गुथा संसार है ॥ ७। ७॥

आकाश में ध्वनि, नीर में रस, वेद में ओंकार हूँ ।
पौरुष पुरुष में, चाँद सूरज में प्रभामय सार हूँ ॥ ७। ८॥

शुभ गन्ध वसुधा में सदा मैं प्राणियों में प्राण हूँ ।
मैं अग्नि में हूँ तेज, तपियों में तपस्या ज्ञान हूँ ॥ ७। ९॥

हे पार्थ! जीवों का सनातन बीज हूँ, आधार हूँ ।
तेजस्वियों में तेज, बुध में बुद्धि का भण्डार हूँ ॥ ७। १०॥

हे पार्थ! मैं कामादि राग- विहीन बल बलवान् का ।
मैं काम भी हूँ धर्म के अविरुद्ध विद्यावान् का ॥ ७। ११॥

सत और रज, तम भाव मुझसे ही हुए हैं ये सभी ।
मुझमें सभी ये किन्तु मैं उनमें नहीं रहता कभी ॥ ७। १२॥

इन त्रिगुण भावों में सभी भूला हुआ संसार है ।
जाने न अव्यय- तत्त्व मेरा जो गुणों से पार है ॥ ७। १३॥

यह त्रिगुणदैवी घोर माया अगम और अपार है ।
आता शरण मेरी वही जाता सहज में पार है ॥ ७। १४॥

पापी, नराधम, ज्ञान माया ने हरा जिनका सभी ।
वे मूढ आसुर बुद्धि- वश मुझको नहीं भजते कभी ॥ ७। १५॥

अर्जुन! मुझे भजता सुकृति- समुदाय चार प्रकार का ।

जिज्ञासु, ज्ञानीजन, दुखी- मन, अर्थ- प्रिय संसार का ॥ ७। १६॥

नित- युक्त ज्ञानी श्रेष्ठ, जो मुझमें अनन्यासक्त है ।
मैं क्योंकि ज्ञानी को परम प्रिय, प्रिय मुझे वह भक्त है ॥ ७। १७॥

वे सब उदार, परन्तु मेरा प्राण ज्ञानी भक्त है ।
वह युक्त जन, सर्वोच्च- गति मुझमें सदा अनुरक्त है ॥ ७। १८॥

जन्मान्तरों में जानकर, 'सब वासुदेव यथार्थ है' ।
ज्ञानी मुझे भजता, सुदुर्लभ वह महात्मा पार्थ है ॥ ७। १९॥

निज प्रकृति- प्रेरित, कामना द्वारा हुए हत ज्ञान से ।
कर नियम भजते विविध विध नर अन्य देव विधान से ॥ ७। २०॥

जो जो कि जिस जिस रूप की पूजा करे नर नित्य ही ।
उस भक्त की करता उसी में, मैं अचल श्रद्धा वही ॥ ७। २१॥

उस देवता को पूजता फिर वह, वही श्रद्धा लिये ।
निज इष्ट- फल पाता सकल, निर्माण जो मैंने किये ॥ ७। २२॥

ये मन्दमति नर किन्तु पाते, अन्तवत फल सर्वदा ।
सुर- भक्त सुर में, भक्त मेरे, आ मिलें मुझमें सदा ॥ ७। २३॥

अव्यक्त मुझको व्यक्त, मानव मूढ लेते मान हैं ।
अविनाशि अनुपम भाव मेरा वे न पाते जान हैं ॥ ७। २४॥

निज योगमाया से ढका सबको न मैं, दिखता कहीं ।
अव्यय अजन्मा मैं, मुझे पर मूढ नर जानें नहीं ॥ ७। २५॥

होंगे, हुए हैं, जीव जो मुझको सभी का ज्ञान है ।
इनको किसी को किन्तु कुछ मेरी नहीं पहिचान है ॥ ७। २६॥

उत्पन्न इच्छा द्वेष से जो द्वन्द्व जग में व्याप्त हैं ।
उनसे परंतप ! सर्व प्राणी मोह करते प्राप्त हैं ॥ ७। २७॥

पर पुण्यवान् मनुष्य जिनके छुट गये सब पाप हैं ।
दृढ द्वन्द्व- मोह- विहीन हो भजते मुझे वे आप हैं ॥ ७। २८॥

करते ममाश्रित जो जरा- मृति- मोक्ष के हित साधना ।
वे जानते हैं ब्रह्म, सब अध्यात्म, कर्म महामना ॥ ७। २९॥

अधि- भूत, दैव व यज्ञ- युत, जो विज्ञ मुझको जानते ॥
वे युक्त- चित मरते समय में भी मुझे पहिचानते ॥ ७। ३०॥

सातवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ७॥

## हरिगीता अध्याय ८

आठवां अध्याय

अर्जुन ने कहा - -
हे कृष्ण! क्या वह ब्रह्म? क्या अध्यात्म है? क्या कर्म है?
अधिभूत कहते हैं किसे? अधिदेव का क्या मर्म है ? ८। १॥

इस देह में अधियज्ञ कैसे और किसको मानते ?
मरते समय कैसे जितेन्द्रिय जन तुम्हें पहिचानते ? ८। २॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
अक्षर परम वह ब्रह्म है, अध्यात्म जीव स्वभाव ही ।
जो भूतभावोद्भव करे व्यापार कर्म कहा वही ॥ ८। ३॥

अधिभूत नश्वर भाव है, चेतन पुरुष अधिदैव ही ।
अधियज्ञ मैं सब प्राणियों के देह बीच सदैव ही ॥ ८। ४॥

तन त्यागता जो अन्त में मेरा मनन करता हुआ ।
मुझमें असंशय नर मिले वह ध्यान यों धरता हुआ ॥ ८। ५॥

अन्तिम समय तन त्यागता जिस भाव से जन व्याप्त हो ।
उसमें रंगा रहकर सदा, उस भाव ही को प्राप्त हो ॥ ८। ६॥

इस हेतु मुझको नित निरन्तर ही समर कर युद्ध भी ।
संशय नहीं, मुझमें मिले, मन बुद्धि मुझमें धर सभी ॥ ८। ७॥

अभ्यास- बल से युक्त योगी चित्त अपना साध के ।
उत्तम पुरुष को प्राप्त होता है उसे आराध के ॥ ८। ८॥

सर्वज्ञ शास्ता सूक्ष्मतम आदित्य- सम तम से परे ।
जो नित अचिन्त्य अनादि सर्वाधार का चिन्तन करे ॥ ८। ९॥

कर योग- बल से प्राण भृकुटी- मध्य अन्तिम काल में ।

निश्चल हुआ वह भक्त मिलता दिव्य पुरुष विशाल में ॥ ८। १०॥

अक्षर कहें वेदज्ञ, जिसमें राग तज यति जन जमें ।
हों ब्रह्मचारी जिसलिये, वह पद सुनो संक्षेप में ॥ ८। ११॥

सब इन्द्रियों को साधकर निश्चल हृदय में मन धरे ।
फिर प्राण मस्तक में जमा कर धारणा योगी करे ॥ ८। १२॥

मेरा लगाता ध्यान कहता ॐ अक्षर ब्रह्म ही ।
तन त्याग जाता जीव जो पाता परम गति है वही ॥ ८। १३॥

भजता मुझे जो जन सदैव अनन्य मन से प्रीति से ।
निज युक्त योगी वह मुझे पाता सरल- सी रीति से ॥ ८। १४॥

पाए हुए हैं सिद्धि- उत्तम जो महात्मा- जन सभी ।
पाकर मुझे दुख- धाम नश्वर- जन्म नहिं पाते कभी ॥ ८। १५॥

विधिलोक तक जाकर पुनः जन जन्म पाते हैं यहीं ।
पर पा गए अर्जुन! मुझे वे जन्म फिर पाते नहीं ॥ ८। १६॥

दिन- रात ब्रह्मा की, सहस्रों युग बड़ी जो जानते ।
वे ही पुरुष दिन- रैन की गति ठीक हैं पहिचानते ॥ ८। १७॥

जब हो दिवस अव्यक्त से सब व्यक्त होते हैं तभी ।
फिर रात्रि होते ही उसी अव्यक्त में लय हों सभी ॥ ८। १८॥

होता विवश सब भूत- गण उत्पन्न बारम्बार है ।
लय रात्रि में होता दिवस में जन्म लेता धार है ॥ ८। १९॥

इससे परे फिर और ही अव्यक्त नित्य- पदार्थ है ।
सब जीव विनशे भी नहीं वह नष्ट होता पार्थ है ॥ ८। २०॥

कहते परम गति हैं जिसे अव्यक्त अक्षर नाम है ।
पाकर जिसे लौटें न फिर मेरा वही पर धाम है ॥ ८। २१॥

सब जीव जिसमें हैं सकल संसार जिससे व्याप्त है ।
वह पर- पुरुष होता अनन्य सुभक्ति से ही प्राप्त है ॥ ८। २२॥

वह काल सुन, तन त्याग जिसमें लौटते योगी नहीं ।
वह भी कहूंगा काल जब मर लौट कर आते यहीं ॥ ८। २३॥

दिन, अग्नि, ज्वाला, शुक्लपख, षट् उत्तरायण मास में ।
तन त्याग जाते ब्रह्मवादी, ब्रह्म ही के पास में ॥ ८। २४॥

निशि, धूम्र में मर कृष्णपख, षट् दक्षिणायन मास में ।
नर चन्द्रलोक विशाल में बस फिर फँसे भव- त्रास में ॥ ८। २५॥

ये शुक्ल, कृष्ण सदैव दो गति विश्व की ज्ञानी कहें ।
दे मुक्ति पहली, दूसरी से लौट फिर जग में रहें ॥ ८। २६॥

ये मार्ग दोनों जान, योगी मोह में पड़ता नहीं ।
इस हेतु अर्जुन! योग- युत सब काल में हो सब कहीं ॥ ८। २७॥

जो कुछ कहा है पुण्यफल, मख वेद से तप दान से ।
सब छोड़ आदिस्थान ले, योगी पुरुष इस ज्ञान से ॥ ८। २८॥

आठवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ८॥

## हरिगीता अध्याय ९

नौवां अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा - -
अब दोषदर्शी तू नहीं यों, गुप्त, सह- विज्ञान के ।
वह ज्ञान कहता हूँ, अशुभ से मुक्त हो जन जान के ॥ ९। १॥

यह राजविद्या, परम- गुप्त, पवित्र, उत्तम- ज्ञान है ।
प्रत्यक्ष फलप्रद, धर्मयुत, अव्यय, सरल, सुख- खान है ॥ ९। २॥

श्रद्धा न जिनको पार्थ है इस धर्म के शुभ सार में ।
मुझको न पाकर लौट आते मृत्युमय संसार में ॥ ९। ३॥

अव्यक्त अपने रूप से जग व्याप्त मैं करता सभी ।
मुझमें सभी प्राणी समझ पर मैं नहीं उनमें कभी ॥ ९। ४॥

मुझमें नहीं हैं भूत देखो योग- शक्ति- प्रभाव है ।
उत्पन्न करता पालता उनसे न किन्तु लगाव है ॥ ९। ५॥

सब ओर रहती वायु है आकाश में जिस भाँति से ।
मुझमें सदा ही हैं समझ सब भूतगण इस भाँति से ॥ ९। ६॥

कल्पान्त में मेरी प्रकृति में जीव लय होते सभी ।
जब कल्प का आरम्भ हो, मैं फिर उन्हें रचता तभी ॥ ९। ७॥

अपनी प्रकृति आधीन कर, इस भूतगण को मैं सदा ।
उत्पन्न बारम्बार करता, जो प्रकृतिवश सर्वदा ॥ ९। ८॥

बँधता नहीं हूँ पार्थ! मैं इस कर्म- बन्धन में कभी ।
रहकर उदासी- सा सदा आसक्ति तज करता सभी ॥ ९। ९॥

अधिकार से मेरे प्रकृति रचती चराचर विश्व है ।
इस हेतु फिरकी की तरह फिरता बराबर विश्व है ॥ ९। १०॥

मैं प्राणियों का ईश हूँ, इस भाव को नहिं जान के ।
करते अवज्ञा जड़, मुझे नर- देहधारी मान के ॥ ९। ११॥

चित्त भ्रष्ट, आशा ज्ञान कर्म निरर्थ सारे ही किये ।
वे आसुरी अति राक्षसीय स्वभाव मोहात्मक लिये ॥ ९। १२॥

दैवी प्रकृति के आसरे बुध- जन भजन मेरा करें ।
भूतादि अव्यय जान पार्थ! अनन्य मन से मन धरें ॥ ९। १३॥

नित यत्न से कीर्तन करें दृढ़ व्रत सदा धरते हुए ।
करते भजन हैं भक्ति से मम वन्दना करते हुए ॥ ९। १४॥

कुछ भेद और अभेद से कुछ ज्ञान- यज्ञ विधान से ।
पूजन करें मेरा कहीं कुछ सर्वतोमुख ध्यान से ॥ ९। १५॥

मैं यज्ञ श्रौतस्मार्त हूँ एवं स्वधा आधार हूँ ।
घृत और औषधि, अग्नि, आहुति, मन्त्र का मैं सार हूँ ॥ ९। १६॥

जग का पिता माता पितामह विश्व- पोषण- हार हूँ ।
ऋक् साम यजु श्रुति जानने के योग्य शुचि ओंकार हूँ ॥ ९। १७॥

पोषक प्रलय उत्पत्ति गति आधार मित्र निधान हूँ ।
साक्षी शरण प्रभु बीज अव्यय में निवासस्थान हूँ ॥ ९। १८॥

मैं ताप देता, रोकता जल, वृष्टि मैं करता कभी ।
मैं ही अमृत भी मृत्यु भी मैं सत् असत् अर्जुन सभी ॥ ९। १९॥

जो सोमपा त्रैविद्य- जन निष्पाप अपने को किये ।
कर यज्ञ मुझको पूजते हैं स्वर्ग- इच्छा के लिये ॥

वे प्राप्त करके पुण्य लोक सुरेन्द्र का, सुरवर्ग में ॥

फिर दिव्य देवों के अनोखे भोग भोगें स्वर्ग में ॥ ९। २०॥

वे भोग कर सुख- भोग को, उस स्वर्गलोक विशाल में ।
फिर पुण्य बीते आ फंसे इस लोक के दुख- जाल में ॥
यों तीन वेदों में कहे जो कर्म- फल में लीन हैं ॥

वे कामना- प्रियजन सदा आवागमन आधीन हैं ॥ ९। २१॥

जो जन मुझे भजते सदैव अनन्य- भावापन्न हो ।
उनका स्वयं मैं ही चलाता योग- क्षेम प्रसन्न हो ॥ ९। २२
जो अन्य देवों को भजें नर नित्य श्रद्धा- लीन हो ।
वे भी मुझे ही पूजते हैं पार्थ! पर विधि- हीन हो ॥ ९। २३॥

सब यज्ञ- भोक्ता विश्व- स्वामी पार्थ मैं ही हूँ सभी ।
पर वे न मुझको जानते हैं तत्त्व से गिरते तभी ॥ ९। २४॥

सुरभक्त सुर को पितृ को पाते पितर- अनुरक्त हैं ।
जो भूत पूजें भूत को, पाते मुझे मम भक्त हैं ॥ ९। २५॥

अर्पण करे जो फूल फल जल पत्र मुझको भक्ति से ।
लेता प्रयत- चित भक्त की वह भेंट मैं अनुरक्ति से ॥ ९। २६॥

कौन्तेय! जो कुछ भी करो तप यज्ञ आहुति दान भी ।
नित खानपानादिक समर्पण तुम करो मेरे सभी ॥ ९। २७॥

हे पार्थ! यों शुभ- अशुभ- फल- प्रद कर्म- बन्धन- मुक्त हो ।
मुझमें मिलेगा मुक्त हो, संन्यास- योग- नियुक्त हो ॥ ९। २८॥

द्वेषी हितैषी है न कोई, विश्व मुझमें एकसा ॥

पर भक्त मुझमें बस रहा, मैं भक्त के मन में बसा ॥ ९। २९॥

यदि दुष्ट भी भजता अनन्य सुभक्ति को मन में लिये ।
है ठीक निश्चयवान् उसको साधु कहना चाहिये ॥ ९। ३०॥

वह धर्म- युत हो शीघ्र शाश्वत शान्ति पाता है यहीं ।
यह सत्य समझो भक्त मेरा नष्ट होता है नहीं ॥ ९। ३१॥

पाते परम- पद पार्थ! पाकर आसरा मेरा सभी ।

जो अड़ रहे हैं पाप- गति में, वैश्य वनिता शूद्र भी ॥ ९। ३२॥

फिर राज- ऋषि पुण्यात्म ब्राह्मण भक्त की क्या बात है ।
मेरा भजन कर, तू दुखद नश्वर जगत् में तात है ॥ ९। ३३॥

मुझमें लगा मन भक्त बन, कर यजन पूजन वन्दना ।
मुझमें मिलेगा मत्परायण युक्त आत्मा को बना ॥ ९। ३४॥

नवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ९॥

## हरिगीता अध्याय १०

दसवां अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा - -
मेरे परम शुभ सुन महाबाहो! वचन अब और भी ।
तू प्रिय मुझे, तुझसे कहूँगा बात हित की मैं सभी ॥ १०। १॥

उत्पत्ति देव महर्षिगण मेरी न कोई जानते ।
सब भाँति इनका आदि हूँ मैं, यों न ये पहिचानते ॥ १०। २॥

जो जानता मुझको महेश्वर अज अनादि सदैव ही ।
ज्ञानी मनुष्यों में सदा सब पाप से छुटता वही ॥ १०। ३॥

नित निश्चयात्मक बुद्धि ज्ञान अमूढता सुख दुःख दम ।
उत्पत्ति लय एवं क्षमा, भय अभय सत्य सदैव शम ॥ १०। ४॥

समता अहिंसा तुष्टि तप एवं अयश यश दान भी ।
उत्पन्न मुझसे प्राणियों के भाव होते हैं सभी ॥ १०। ५॥

हे पार्थ! सप्त महर्षिजन एवं प्रथम मनु चार भी ।
मम भाव- मानस से हुए, उत्पन्न उनसे जन सभी ॥ १०। ६॥

जो जानता मेरी विभूति, व योग- शक्ति यथार्थ है ।
संशय नहीं दृढ- योग वह नर प्राप्त करता पार्थ है ॥ १०। ७॥

मैं जन्मदाता हूँ सभी मुझसे प्रवर्तित तात हैं ।
यह जान ज्ञानी भक्त भजते भाव से दिन- रात हैं ॥ १०। ८॥

मुझमें लगा कर प्राण मन, करते हुए मेरी कथा ।

करते परस्पर बोध, रमते तुष्ट रहते सर्वथा ॥ १०। ९॥

इस भाँति होकर युक्त जो नर नित्य भजते प्रीति से ।
मति- योग ऐसा दूँ, मुझे वे पा सकें जिस रीति से ॥ १०। १०॥

उनके हृदय में बैठ पार्थ! कृपार्थ अपने ज्ञान का ।
दीपक जलाकर नाश करता तम सभी अज्ञान का ॥ १०। ११॥

अर्जुन ने कहा - -
तुम परम- ब्रह्म पवित्र एवं परमधाम अनूप हो ।
हो आदिदेव अजन्म अविनाशी अनन्त स्वरूप हो ॥ १०। १२॥

नारद महा मुनि असित देवल व्यास ऋषि कहते यही ।
मुझसे स्वयं भी आप हे जगदीश! कहते हो वही ॥ १०। १३॥

केशव! कथन सारे तुम्हारे सत्य ही मैं मानता ।
हे हरि! तुम्हारी व्यक्ति सुर दानव न कोई जानता ॥ १०। १४॥

हे भूतभावन भूतईश्वर देवदेव जगत्पते ।
तुम आप पुरुषोत्तम स्वयं ही आपको पहिचानते ॥ १०। १५॥

जिन- जिन महान् विभूतियों से व्याप्त हो संसार में ।
वे दिव्य आत्म- विभूतियाँ बतलाइये विस्तार में ॥ १०। १६॥

चिन्तन सदा करता हुआ कैसे तुम्हें पहिचान लूँ ।
किन- किन पदार्थों में करूँ चिन्तन तुम्हारा जान लूँ ॥ १०। १७॥

भगवन्! कहो निज योग और विभूतियाँ विस्तार से ।
भरता नहीं मन आपकी वाणी सुधामय धार से ॥ १०। १८॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
कौन्तेय! दिव्य विभूतिआँ मेरी अनन्त विशेष हैं ।
अब मैं बताऊँगा तुझे जो जो विभूति विशेष हैं ॥ १०। १९॥

मैं सर्वजीवों के हृदय में अन्तरात्मा पार्थ! हूँ ।
सब प्राणियों का आदि एवं मध्य अन्त यथार्थ हूँ ॥ १०। २०॥

आदित्यगण में विष्णु हूँ, सब ज्योति बीच दिनेश हूँ ।
नक्षत्र में राकेश, मरुतों में मरीचि विशेष हूँ ॥ १०। २१॥

मैं साम वेदों में तथा सुरवृन्द बीच सुरेन्द्र हूँ ।

मैं शक्ति चेतन जीव में, मन इन्द्रियों का केन्द्र हूँ ॥ १०। २२॥

शिव सकल रुद्रों बीच राक्षस यक्ष बीच कुबेर हूँ ।
मैं अग्नि वसुओं में, पहाड़ों में पहाड़ सुमेरु हूँ ॥ १०। २३॥

मुझको बृहस्पति पार्थ! मुख्य पुरोहितों में जान तू ।
सेनानियों में स्कन्द, सागर सब सरों में मान तू ॥ १०। २४॥

भृगु श्रेष्ठ ऋषियों में, वचन में मैं सदा ॐकार हूँ ।
सब स्थावरों में गिरि हिमालय, यज्ञ में जप- सार हूँ ॥ १०। २५॥

मुनि कपिल सिद्धों बीच, नारद देव- ऋषियों में कहा ।
गन्धर्वगण में चित्ररथ, तरु- वर्ग में पीपल महा ॥ १०। २६॥

उच्चैःश्रवा सारे हयों में, अमृत- जन्य अनूप हूँ ।
मैं हाथियों में श्रेष्ठ ऐरावत, नरों में भूप हूँ ॥ १०। २७॥

सुरधेनु गौओं में, भुजंगों बीच वासुकि सर्प हूँ ।
मैं वज्र शस्त्रों में, प्रजा उत्पत्ति- कर कन्दर्प हूँ ॥ १०। २८॥

मैं पितर गण में, अर्यमा हूँ, नाग- गण में शेष हूँ ।
यम शासकों में, जलचरों में वरुण रूप विशेष हूँ ॥ १०। २९॥

प्रह्लाद दैत्यों बीच, संख्या- सूचकों में काल हूँ ।
मैं पक्षियों में गरुड़, पशुओं में मृगेन्द्र विशाल हूँ ॥ १०। ३०॥

गंगा नदों में, शस्त्र- धारी- वर्ग में मैं राम हूँ ।
मैं पवन् वेगों बीच, मीनों में मकर अभिराम हूँ ॥ १०। ३१॥

मैं आदि हूँ मध्यान्त हूँ हे पार्थ! सारे सर्ग का ।
विद्यागणों में ब्रह्मविद्या, वाद वादी- वर्ग का ॥ १०। ३२॥

सारे समासों बीच द्वन्द्व, अकार वर्णों में कहा ।
मैं काल अक्षय और अर्जुन विश्वमुख धाता महा ॥ १०। ३३॥

मैं सर्वहर्ता मृत्यु, सबका मूल जो होंगे अभी ।
तिय वर्ग में मेधा क्षमा धृति कीर्ति सुधि श्री वाक् भी ॥ १०। ३४॥

हूँ साम में मैं बृहत्साम, वसन्त ऋतुओं में कहा ।
मंगसिर महीनों बीच, गायत्री सुछन्दों में महा ॥ १०। ३५॥

तेजस्वियों का तेज हूँ मैं और छलियों में जुआ ।
जय और निश्चय, सत्व सारे सत्वशीलों का हुआ ॥ १०। ३६॥

मैं वृष्णियों में वासुदेव व पाण्डवों में पार्थ हूँ ।
मैं मुनिजनों में व्यास, कवियों बीच शुक्र यथार्थ हूँ ॥ १०। ३७॥

मैं शासकों का दण्ड, विजयी की सुनीति प्रधान हूँ ।
हूँ मौन गुह्यों में सदा, मैं ज्ञानियों का ज्ञान हूँ ॥ १०। ३८॥

इस भाँति प्राणीमात्र का जो बीज है, मैं हूँ सभी ।
मेरे बिना अर्जुन! चराचर है नहीं कोई कभी ॥ १०। ३९॥

हे पार्थ! दिव्य विभूतियाँ मेरी अनन्त अपार हैं ।
कुछ कह दिये दिग्दर्शनार्थ विभूति के विस्तार हैं ॥ १०। ४०॥

जो जो जगत् में वस्तु, शक्ति विभूति श्रीसम्पन्न हैं ।
वे जान मेरे तेज के ही अंश से उत्पन्न हैं ॥ १०। ४१॥

विस्तार से क्या काम तुमको जानलो यह सार है ।
इस एक मेरे अंश से व्यापा हुआ संसार है ॥ १०। ४२॥

दसवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ १०॥

## हरिगीता अध्याय ११

ग्यारहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा - -
उपदेश यह अति गुप्त जो तुमने कहा करके दया ।
अध्यात्म विषयक ज्ञान से सब मोह मेरा मिट गया ॥ ११। १॥

विस्तार से सब सुन लिया उत्पत्ति लय का तत्त्व है ।
मैंने सुना सब आपका अक्षय अनन्त महत्व है ॥ ११। २॥

हैं आप वैसे आपने जैसा कहा है हे प्रभो ।
मैं देखना हूं चाहता ऐश्वर्यमय उस रूप को ॥ ११। ३॥

समझें प्रभो यदि आप, मैं वह देख सकता हूँ सभी ।
तो वह मुझे योगेश! अव्यय रूप दिखलादो अभी ॥ ११। ४॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
हे पार्थ! देखो दिव्य अनुपम विविध वर्णाकार के ।
शत- शत सहस्त्रों रूप मेरे भिन्न भिन्न प्रकार के ॥ ११। ५॥

सब देख भारत! रुद्र वसु अश्विनि मरुत आदित्य भी ।
आश्चर्य देख अनेक अब पहले न देखे जो कभी ॥ ११। ६॥

इस देह में एकत्र सारा जग चराचर देखले ।
जो और चाहे देखना इसमें बराबर देख ले ॥ ११। ७॥

मुझको न अपनी आँख से तुम देख पाओगे कभी ।
मैं दिव्य देता दृष्टि, देखो योग का वैभव सभी ॥ ११। ८॥

संजय ने कहा- -
जब पार्थ से श्रीकृष्ण ने इस भाँति हे राजन्! कहा ।
तब ही दिया ऐश्वर्य- युक्त स्वरूप का दर्शन महा ॥ ११। ९॥

मुख नयन थे उसमें अनेकों ही अनोखा रूप था ।
पहिने अनेकों दिव्य गहने शस्त्र- साज अनूप था ॥ ११। १०॥

सीमा- रहित अद्भुत महा वह विश्वतोमुख रूप था ।
धारण किये अति दिव्य माला वस्त्र गन्ध अनूप था । ११। ११॥

नभ में सहस रवि मिल उदय हों प्रभापुञ्ज महान् हो ।
तब उस महात्मा कान्ति के कुछ कुछ प्रकाश समान हो ॥ ११। १२॥

उस देवदेव शरीर में देखा धनंजय ने तभी ।
बांटा विविध विध से जगत् एकत्र उसमें है सभी ॥ ११। १३॥

रोमांच तन में हो उठा आश्चर्य से मानो जगे ।
तब यों धनंजय सिर झुका, कर जोड़ कर कहने लगे ॥ ११। १४॥

अर्जुन ने कहा - -
भगवन्! तुम्हारी देह में मैं देखता सुर- गण सभी ।
मैं देखता हूँ देव! इसमें प्राणियों का संघ भी ॥
शुभ कमल आसन पर इसी में ब्रह्मदेव विराजते ।
इसमें महेश्वर और ऋषिगण, दिव्य पन्नग साजते ॥ ११। १५॥

बहु बाहु इसमें हैं अनेकों ही उदरमय रूप है ।

मुख और आँखें हैं अनेकों, हरि- स्वरूप अनूप है ॥
दिखता न विश्वेश्वर तुम्हारा आदि मध्य न अन्त है ॥

मैं देखता सब ओर छाया विश्वरूप अनन्त है ॥ ११। १६॥

पहिने मुकुट, मञ्जुल गदा, शुभ चक्र धरते आप हैं ।
हो तेज- निधि, सारी दिशा दैदीप्त करते आप हैं ॥
तुम दुर्निरीक्षय महान् अपरम्पार हे भगवान् हो ॥

सब ओर दिखते दीप्त अग्नि दिनेश सम द्युतिवान हो ॥ ११। १७॥

तुम जानने के योग्य अक्षरब्रह्म अपरम्पार हो ।
जगदीश! सारे विश्व मण्डल के तुम्हीं आधार हो ॥
अव्यय सनातन धर्म के रक्षक सदैव महान् हो ॥

मेरी समझ से तुम सनातन पुरुष हे भगवान् हो ॥ ११। १८॥

नहिं आदि मध्य न अन्त और अनन्त बल- भण्डार है ।
शशि- सूर्य रूपी नेत्र और अपार भुज- विस्तार है ॥
प्रज्वलित अग्नि प्रचण्ड मुख में देखता मैं धर रहे ॥

संसार सारा तप्त अपने तेज से हरि कर रहे ॥ ११। १९॥

नभ भूमि अन्तर सब दिशा इस रूप से तुम व्यापते ।
यह उग्र अद्भुत रूप लखि त्रैलोक्य थर- थर काँपते ॥ ११। २०॥

ये आप ही में देव- वृन्द प्रवेश करते जा रहे ।
डरते हुए कर जोड़ जय- जय देव शब्द सुना रहे ॥
सब सिद्ध- संघ महर्षिगण भी स्वस्ति कहते आ रहे ॥

पढ़ कर विविध विध स्तोत्र स्वामिन् आपके गुण गा रहे ॥ ११। २१॥

सब रुद्रगण आदित्य वसु हैं साध्यगण सारे खड़े ।
सब पितर विश्वेदेव अश्विनि और सिद्ध बड़े बड़े ॥
गन्धर्वगण राक्षस मरुत समुदाय एवं यक्ष भी ॥

मन में चकित होकर हरे! वे देखते तुमको सभी ॥ ११। २२॥

बहु नेत्र मुखवाला महाबाहो! स्वरूप अपार है ।
हाथों तथा पैरों व जंघा का बड़ा विस्तार है ॥
बहु उदर इसमें और बहु विकराल डाढ़ें हैं महा ॥

भयभीत इसको देख सब हैं भय मुझे भी हो रहा ॥ ११। २३॥

यह गगनचुंबी जगमगाता हरि! अनेकों रंग का ।
आँखें बड़ी बलती, खुला मुख भी अनोखे ढ़ंग का ॥
यह देख ऐसा रूप मैं मन में हरे! घबरा रहा ॥

नहिं धैर्य धर पाता, न भगवन्! शान्ति भी मैं पा रहा ॥ ११। २४॥

डाढ़ें भयंकर देख पड़ता मुख महाविकराल है ।
मानो धधकती यह प्रलय- पावक प्रचण्ड विशाल है ॥

सुख है न ऐसे देख मुख, भूला दिशायें भी सभी ॥

देवेश! जग- आधार! हे भगवन्! करो करुणा अभी ॥ ११। २५॥

धृतराष्ट्र- सुत सब साथ उनके ये नृपति- समुदाय भी ।
श्री भीष्म द्रोणाचार्य कर्ण प्रधान अपने भट सभी ॥ ११। २६॥

विकराल डाड़ों युत भयानक आपके मुख में हरे ।
अतिवेग से सब दौड़ते जाते धड़ाधड़ हैं भरे ॥
ये दिख रहे कुछ दाँत में लटके हुए रण- शूर हैं ॥

इस डाढ़ में पिस कर अभी जिनके हुए शिर चूर हैं ॥ ११। २७॥

जिस भाँति बहु सरिता- प्रवाह समुद्र प्रति जाते बहे ।
ऐसे तुम्हारे ज्वाल- मुख में वेग से नर जा रहे ॥ ११। २८॥

जिस भाँति जलती ज्वाल में जाते पतंगे वेग से ।
यों मृत्यु हित ये नर, मुखों में आपके जाते बसे ॥ ११। २९॥

सब ओर से इस ज्वालमय मुख में नरों को धर रहे ।
देवेश! रसना चाटते भक्षण सभी का कर रहे ॥
विष्णो! प्रभाएँ आपकी अति उग्र जग में छा रहीं ॥

निज तेज से संसार सारा ही सुरेश तपा रही ॥ ११। ३०॥

तुम उग्र अद्भुत रूपधारी कौन हो बतलाइये ।
हे देवदेव ! नमामि देव! प्रसन्न अब हो जाइये ॥
तुम कौन आदि स्वरूप हो, यह जानना मैं चाहता ॥

कुछ भी न मुझको आपकी इस दिव्य करनी का पता ॥ ११। ३१॥

श्रीभगवान् ने कहा --
मैं काल हूँ सब लोक- नाशक उग्र अपने को किये ।
आया यहाँ संसार का संहार करने के लिये ॥
तू हो न हो तो भी धनंजय! देख बिन तेरे लड़े ॥

ये नष्ट होंगे वीरवर योधा बड़े सब जो खड़े ॥ ११। ३२॥

अतएव उठ रिपुदल- विजय कर, प्राप्त कर सम्मान को ।
फिर भोग इस धन- धान्य से परिपूर्ण राज्य महान् को ॥

हे पार्थ! मैंने वीर ये सब मार पहिले ही दिये ॥

आगे बढ़ो तुम युद्ध में बस नाम करने के लिये ॥ ११। ३३॥

ये भीष्म द्रोण तथा जयद्रथ कर्ण योद्धा और भी ।
जो वीरवर हैं मार पहिले ही दिये मैंने सभी ॥
अब मार इन मारे हुओं को, वीरवर! व्याकुल न हो ॥

कर युद्ध रण में शत्रुओं को पार्थ! जीतेगा अहो ॥ ११। ३४॥

संजय ने कहा --
तब मुकुटधारी पार्थ सुन केशव- कथन इस रीति से ।
अपने उभय कर जोड़ कर कँपते हुए भयभीत से ॥
नमते हुए, गद्गद् गले से, और भी डरते हुए ॥

श्रीकृष्ण से बोले वचन, यों वन्दना करते हुए ॥। ११। ३५॥

अर्जुन ने कहा --
होता जगत् अनुरक्त हर्षित आपका कीर्तन किये ।
सब भागते राक्षस दिशाओं में तुम्हारा भय लिये ॥
नमता तुम्हें सब सिद्ध- संघ सुरेश ! बारम्बार है ॥

हे हृषीकेश! समस्त ये उनका उचित व्यवहार है ॥ ११। ३६॥

तुम ब्रह्म के भी आदिकारण और उनसे श्रेष्ठ हो ।
फिर हे महात्मन! आपकी यों वन्दना कैसे न हो ॥
संसार के आधार हो, हे देवदेव! अनन्त हो ॥

तुम सत्, असत् इनसे परे अक्षर तुम्हीं भगवन्त हो ॥ ११। ३७॥

भगवन्! पुरातन पुरुष हो तुम विश्व के आधार हो ।
हो आदिदेव तथैव उत्तम धाम अपरम्पार हो ॥
ज्ञाता तुम्हीं हो जानने के योग्य भी भगवन्त् हो ॥

संसार में व्यापे हुए हो देवदेव! अनन्त हो ॥ ११। ३८॥

तुम वायु यम पावक वरुण एवं तुम्हीं राकेश हो ।
ब्रह्मा तथा उनके पिता भी आप ही अखिलेश हो ॥
हे देवदेव! प्रणाम देव! प्रणाम सहसों बार हो ॥

फिर फिर प्रणाम! प्रणाम! नाथ, प्रणाम! बारम्बार हो ॥ ११। ३९॥

सानन्द सन्मुख और पीछे से प्रणाम सुरेश! हो ।
हरि बार- बार प्रणाम चारों ओर से सर्वेश! हो ॥
है वीर्य शौर्य अनन्त, बलधारी अतुल बलवन्त हो ॥

व्यापे हुए सबमें इसी से 'सर्व' हे भगवन्त! हो ॥ ११। ४०॥

तुमको समझ अपना सखा जाने बिना महिमा महा ।
यादव! सखा! हे कृष्ण! प्यार प्रमाद या हठ से कहा ॥ ११। ४१॥

अच्युत! हँसाने के लिये आहार और विहार में ।
सोते अकेले बैठते सबमें किसी व्यवहार में ॥ ११। ४२॥

सबकी क्षमा मैं मांगता जो कुछ हुआ अपराध हो ॥।

संसार में तुम अतुल अपरम्पार और अगाध हो .. .. ११। ४२॥

सारे चराचर के पिता हैं आप जग- आधार हैं ।
हैं आप गुरुओं के गुरु अति पूज्य अपरम्पार हैं ॥
त्रैलोक्य में तुमसा प्रभो! कोई कहीं भी है नहीं ॥

अनुपम अतुल्य प्रभाव बढ़कर कौन फिर होगा कहीं ॥ ११। ४३॥

इस हेतु वन्दन- योग्य ईश! शरीर चरणों में किये ।
मैं आपको करता प्रणाम प्रसन्न करने के लिये ॥
ज्यों तात सुत के, प्रिय प्रिया के, मित्र सहचर अर्थ हैं ॥

अपराध मेरा आप त्यों ही सहन हेतु समर्थ हैं ॥। ११। ४४॥

यह रूप भगवन्! देखकर, पहले न जो देखा कभी ।
हर्षित हुआ मैं किन्तु भय से है विकल भी मन अभी ॥
देवेश! विश्वाधार! देव! प्रसन्न अब हो जाइये ॥

हे नाथ! पहला रूप ही अपना मुझे दिखलाइये ॥ ११। ४५॥

मैं चाहता हूँ देखना, तुमको मुकुट धारण किये ।
हे सहसबाहो! शुभ करों में चक्र और गदा लिये ॥
हे विश्वमूर्ते! फिर मुझे वह सौम्य दर्शन दीजिये ॥

वह ही चतुर्भुज रूप हे देवेश! अपना कीजिये ॥ ११। ४६॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
हे पार्थ! परम प्रसन्न हो तुझ पर अनुग्रह- भाव से ।
मैने दिखाया विश्वरूप महान योग- प्रभाव से ॥
यह परम तेजोमय विराट् अनंत आदि अनूप है ॥

तेरे सिवा देखा किसी ने भी नहीं यह रूप है ॥ ११। ४७॥

हे कुरुप्रवीर! न वेद से, स्वाध्याय यज्ञ न दान से ।
दिखता नहीं मैं उग्र तप या क्रिया कर्म- विधान से ॥
मेरा विराट् स्वरूप इस नर- लोक में अर्जुन! कहीं ॥

अतिरिक्त तेरे और कोई देख सकता है नहीं ॥ ११। ४८॥

यह घोर- रूप निहार कर मत मूढ और अधीर हो ।
फिर रूप पहला देख, भय तज तुष्ट मन में वीर हो ॥ ११। ४९॥

संजय ने कहा - -
यों कह दिखाया रूप अपना सौम्य तन फिर धर लिया ।
भगवान् ने भयभीत व्याकुल पार्थ को धीरज दिया ॥ ११। ५०॥

अर्जुन ने कहा- -
यह सौम्य नर- तन देख भगवन्! मन ठिकाने आ गया ।
जिस भाँति पहले था वही अपनी अवस्था पा गया ॥ ११। ५१॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
हे पार्थ! दुर्लभ रूप यह जिसके अभी दर्शन किये ।
सुर भी तरसते हैं इसी की लालसा मन में लिये ॥ ११। ५२॥

दिखता न मैं तप, दान अथवा यज्ञ, वेदों से कहीं ।
देखा जिसे तूने उसे नर देख पाते हैं नहीं ॥ ११। ५३॥

हे पार्थ! एक अनन्य मेरी भक्ति से सम्भव सभी ।
यह ज्ञान, दर्शन, और मुझमें तत्त्व जान प्रवेश भी ॥ ११। ५४॥

मेरे लिये जो कर्म- तत्पर, नित्य मत्पर, भक्त है ।
पाता मुझे वह जो सभी से वैर हीन विरक्त है ॥ ११। ५५॥

ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ॥ ११॥

## हरिगीता अध्याय १२

बारहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा - -
अव्यक्त को भजते कि जो धरते तुम्हारा ध्यान हैं ।
इन योगियों में योगवेत्ता कौन श्रेष्ठ महान हैं ॥ १२ । १ ॥

श्रीभगवान् ने कहा - -
कहता उन्हें मैं श्रेष्ठ मुझमें चित्त जो धरते सदा ।
जो युक्त हो श्रद्धा- सहित मेरा भजन करते सदा ॥ १२ । २ ॥

अव्यक्त, अक्षर, अनिर्देश्य, अचिन्त्य नित्य स्वरूप को ।
भजते अचल, कूटस्थ, उत्तम सर्वव्यापी रूप को ॥ १२ । ३ ॥

सब इन्द्रियाँ साधे सदा समबुद्धि ही धरते हुए ।
पाते मुझे वे पार्थ प्राणी मात्र हित करते हुए ॥ १२ । ४ ॥

अव्यक्त में आसक्त जो होता उन्हें अति क्लेश है ।
पाता पुरुष यह गति, सहन करके विपत्ति विशेष है ॥ १२ । ५ ॥

हो मत्परायण कर्म सब अर्पण मुझे करते हुए ।
भजते सदैव अनन्य मन से ध्यान जो धरते हुए ॥ १२ । ६ ॥

मुझमें लगाते चित्त उनका शीघ्र कर उद्धार मैं ।
इस मृत्युमय संसार से बेड़ा लगाता पार मैं ॥ १२ । ७ ॥

मुझमें लगाले मन, मुझी में बुद्धि को रख सब कहीं ।
मुझमें मिलेगा फिर तभी इसमें कभी संशय नहीं ॥ १२ । ८ ॥

मुझमें धनंजय! जो न ठीक प्रकार मन पाओ बसा ।
अभ्यास- योग प्रयत्न से मेरी लगालो लालसा ॥ १२ । ९ ॥

अभ्यास भी होता नहीं तो कर्म कर मेरे लिये ।
सब सिद्धि होगी कर्म भी मेरे लिये अर्जुन! किये ॥ १२ । १० ॥

यह भी न हो तब आसरा मेरा लिये कर योग ही।
कर चित्त-संयम कर्मफल के त्याग सारे भोग ही॥ १२। ११॥

अभ्यास पथ से ज्ञान उत्तम ज्ञान से गुरु ध्यान है।
गुरु ध्यान से फलत्याग करता त्याग शान्ति प्रदान है॥ १२। १२॥

बिन द्वेष सारे प्राणियों का मित्र करुणावान् हो।
सम दुःखसुख में मद न ममता क्षमाशील महान् हो॥ १२। १३॥

जो तुष्ट नित मन बुद्धि से मुझमें हुआ आसक्त है।
दृढ निश्चयी है संयमी प्यारा मुझे वह भक्त है॥ १२। १४॥

पाते न जिससे क्लेश जन उनसे न पाता आप ही।
भय क्रोध हर्ष विषाद बिन प्यारा मुझे है जन वही॥ १२। १५॥

जो शुचि उदासी दक्ष है जिसको न दुख बाधा रही।
इच्छा रहित आरम्भ त्यागी भक्त प्रिय मुझको वही॥ १२। १६॥

करता न द्वेष न हर्ष जो बिन शोक है बिन कामना।
त्यागे शुभाशुभ फल वही है भक्त प्रिय मुझको घना॥ १२। १७॥

सम शत्रु मित्रों से सदा अपमान मान समान है।
शीतोष्ण सुख-दुख सम जिसे आसक्ति बिन मतिमान है॥ १२। १८॥

निन्दा प्रशंसा सम जिसे मौनी सदा संतुष्ट ही।
अनिकेत निश्चल बुद्धिमय प्रिय भक्त है मुखको वही॥ १२। १९॥

जो मत्परायण इस सुधामय धर्म में अनुरक्त हैं।
वे नित्य श्रद्धावान जन मेरे परम प्रिय भक्त हैं॥ १२। २०॥

# हरिगीता अध्याय १३

तेरहवां अध्याय

श्री भगवान् बोले -
कौन्तेय, यह तन क्षेत्र है ज्ञानी बताते हैं यही ।
जो जानता इस क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ कहलाता वही ॥ १३। १ ॥

हे पार्थ, क्षेत्रों में मुझे क्षेत्रज्ञ जान महान तू ।
क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र का सब ज्ञान मेरा जान तू ॥ १३। २ ॥

वह क्षेत्र जो, जैसा, जहाँ से, जिन विकारों-युत, सभी ।
संक्षेप में सुन, जिस प्रभाव समेत वह क्षेत्रज्ञ भी ॥ १३। ३ ॥

बहु भाँति ऋषियों और छन्दों से अनेक प्रकार से ।
गाया पदों में ब्रह्मसूत्रों के सहेतु विचार से ॥ १३। ४ ॥

मन बुद्धि एवं महाभूत प्रकृति अहंकृत भाव भी ।
पाँचों विषय सब इन्द्रियों के और इन्द्रियगण सभी ॥ १३। ५ ॥

सुख-दुःख इच्छा द्वेष धृत्ति संघात एवं चेतना ।
संक्षेप में यह क्षेत्र है समुदाय जो इनका बना ॥ १३। ६ ॥

अभिमान दम्भ अभाव, आर्जव, शौच, हिंसाहीनता ।
थिरता, क्षमा, निग्रह तथा आचार्य-सेवा दीनता ॥ १३। ७ ॥

इन्द्रिय-विषय-वैराग्य एवं मद सदैव निवारना ।
जीवन, जरा, दुख, रोग। मृत्यु सदोष नित्य विचारना ॥ १३। ८ ॥

नहिं लिप्त नारी पुत्र में, सब त्यागना फल-वासना ।
नित शुभ अशुभ की प्राप्ति में भी एकसा रहना बना ॥ १३। ९ ॥

मुझमें अनन्य विचार से व्यभिचार विरहित भक्ति हो ।
एकान्त का सेवन, न जन समुदाय में आसक्ति हो ॥ १३। १० ॥

अध्यात्मज्ञान व तत्त्वज्ञान विचार, यह सब ज्ञान है ।
विपरीत इनके और जो कुछ है सभी अज्ञान है ॥ १३। ११ ॥

अब वह बताता ज्ञेय जिसके ज्ञान से निस्तार है ।
नहिं सत् असत्, परब्रह्म तो अनादि और अपार है ॥ १३। १२ ॥

सर्वत्र उसके पाणि पद सिर नेत्र मुख सब ओर ही ।
सब ओर उसके कान हैं, सर्वत्र फैला है वही ॥ १३। १३ ॥

इन्द्रिय-गुणों का भास उसमें किन्तु इन्द्रिय-हीन है ।
हो अलग जग-पालक, निर्गुण होकर गुणों में लीन है ॥ १३। १४ ॥

भीतर व बाहर प्राणियों में दूर भी है पास भी
वह चर अचर अति सूक्ष्म है जाना नहीं जाता कभी ॥ १३। १५ ॥

अविभक्त होकर प्राणियों में वह विभक्त सदैव है ।
वह ज्ञेय पालक और नाशक जन्मदाता देव है ॥ १३। १६ ॥

वह ज्योतियों की ज्योति है, तम से परे है, ज्ञान है ।
सब में बसा है, ज्ञेय है, वह ज्ञानगम्य महान् है ॥ १३। १७ ॥

यह क्षेत्र, ज्ञान, महान् ज्ञेय, कहा गया संक्षेप से ।
हे पार्थ, इसको जान मेरा भक्त मुझमें आ बसे ॥ १३। १८ ॥

यह प्रकृति एवं पुरुष दोनों ही अनादि विचार हैं ।
पैदा प्रकृति से ही समझ, गुण तीन और प्रकार हैं ॥ १३। १९ ॥

है कार्य एवं करण की उत्पत्ति कारण प्रकृति ही ।
इस जीव को कारण कहा, सुख-दुःख भोग निमित्त्त ही ॥ १३। २० ॥

रहकर प्रकृति में नित पुरुष, करता प्रकृति-गुण भोग है ।
अच्छी बुरी सब योनियाँ, देता यही गुण-योग है ॥ १३। २१ ॥

द्रष्टा व अनुमन्ता सदा, भर्ता प्रभोक्ता शिव महा ।
इस देह में परमात्मा, उस पर-पुरुष को है कहा ॥ १३। २२ ॥

ऐसे पुरुष एवं प्रकृति को, गुण सहित जो जान ले ।
बरताव कैसा भी करे वह जन्म फिर जग में न ले ॥ १३। २३ ॥

कुछ आप ही में आप आत्मा देखते हैं ध्यान से ।
कुछ कर्म-योगी कर्म से, कुछ सांख्य-योगी ज्ञान से ॥ १३। २४ ॥

सुन दूसरों से ही किया करते भजन अनजान हैं ।
तरते असंशय मृत्यु वे, श्रुति में लगे मतिमान् हैं ॥ १३। २५ ॥

जानो चराचर जीव जो पैदा हुए संसार में ।
सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से विस्तार में ॥ १३। २६ ॥

अविनाशि, नश्वर सर्वभूतों में रहे सम नित्य ही ।
इस भाँति ईश्वर को पुरुष जो देखता देखे वही ॥ १३। २७ ॥

जो देखता समभाव से ईश्वर सभी में व्याप्त है ।
करता न अपनी घात है, करता परमपद प्राप्त है ॥ १३। २८ ॥

करती प्रकृति सब कर्म, आत्मा है अकर्ता नित्य ही ।
इस भाँति से जो देखता है, देखता है जन वही ॥ १३। २९ ॥

जब प्राणियों की भिन्नता जन एक में देखे सभी ।
विस्तार देखे एक से ही, ब्रह्म को पाता तभी ॥ १३। ३० ॥

यह ईश अव्यय, निर्गुण और अनादि होने से सदा ।
करता न होता लिप्त है, रह देह में भी सर्वदा ॥ १३। ३१ ॥

नभ सर्वव्यापी सूक्ष्म होने से न जैसे लिप्त हो ।
सर्वत्र आत्मा देह में रहकर न वैसे लिप्त हो ॥ १३। ३२ ॥

ज्यों एक रवि सम्पूर्ण जग में तेज भरता है सदा ।
यों ही प्रकाशित क्षेत्र को क्षेत्रज्ञ करता सर्वदा ॥ १३। ३३ ॥

क्षेत्रज्ञ एवं क्षेत्र अन्तर, ज्ञान से समझें सही ।
समझें प्रकृति से छूटना, जो ब्रह्म को पाते वही ॥ १३। ३४ ॥

ॐ तत्सदिति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

## हरिगीता अध्याय १४

चौदहवाँ अध्याय

श्री भगवान् बोले
अतिश्रेष्ठ ज्ञानों में बताता ज्ञान मैं अब और भी ।
मुनि पा गये हैं सिद्धि जिसको जानकर जग में सभी ॥ १४। १ ॥

इस ज्ञान का आश्रय लिए जो रूप मेरा हो रहें ।
उत्पत्ति-काल न जन्म लें, लय-काल में न व्यथा सहें ॥ १४। २ ॥

इस प्रकृति अपनी योनि में, मैं गर्भ रखता हूँ सदा ।
उत्पन्न होते हैं उसीसे सर्व प्राणी सर्वदा ॥ १४। ३ ॥

सब योनियों में मूर्तियों के जो अनेकों रूप हैं ।
मैं बीज-प्रद पिता हूँ, प्रकृति योनि अनूप हैं ॥ १४। ४ ॥

पैदा प्रकृति से सत्त्व, रज, तम त्रिगुण का विस्तार है ।
इस देह में ये जीव को लें बांध, जो अविकार है ॥ १४। ५ ॥

अविकार सतगुण है प्रकाशक, क्योंकि निर्मल आप है ।
यह बांध लेता जीव को सुख ज्ञान से निष्पाप है ॥ १४। ६ ॥

जानो रजोगुण रागमय, उत्पन्न तृष्णा संग से ।
वह बांध लेता जीव को कौन्तेय, कर्म-प्रसंग से ॥ १४। ७ ॥

अज्ञान से उत्पन्न तम सब जीव को मोहित करे ।
आलस्य, नींद, प्रमाद से यह जीव को बन्धित करे ॥ १४। ८ ॥

सुख में सतोगुण, कर्म में देता रजोगुण संग है ।
ढ़क कर तमोगुण ज्ञान को, देता प्रमाद प्रसंग है ॥ १४। ९ ॥

रज तम दबें तब सत्त्व गुण, तम सत्व दबते रज बढ़ए ।
रज सत्त्व दबते ही तमोगुण देहधारी पर चढ़ए ॥। १४। १० ॥

जब देह की सब इन्द्रियों में ज्ञान का हो चाँदना ।
तब जान लेना चाहिए तन में सतोगुण है घना ॥ १४। ११ ॥

तृष्णा अशान्ति प्रवृत्ति होकर मन प्रलोभन में पड़ए ।
आरम्भ होते कर्म के अर्जुन, रजोगुण जब बढ़ए ॥ १४। १२ ॥

कौन्तेय, मोह प्रमाद हो, जब हो न मन में चाँदना ।
उत्पन्न हो आलस्य जब, होता तमोगुण है घना ॥ १४। १३ ॥

इस देह में यदि सत्त्वगुण की वृद्धि मरते काल है ।
तो प्राप्त करता ज्ञानियों का शुद्ध लोक विशाल है ॥ १४। १४ ॥

रज-वृद्धि में मर, देह कर्मासक्त पुरुषों में धरे ।
जड़ योनियों में जन्मता, यदि जन तमोगुण में मरे ॥ १४। १५ ॥

फल पुण्य कर्मों का सदा शुभ श्रेष्ठ सात्त्विक ज्ञान है ।
फल दुख रजोगुण का, तमोगुण-फल सदा अज्ञान है ॥ १४। १६ ॥

उत्पन्न सत से ज्ञान, रज से नित्य लोभ प्रधान है ।
है मोह और प्रमाद तमगुण से सदा अज्ञान है ॥ १४। १७ ॥

सात्त्विक पुरुष स्वर्गादि में, नरलोक में राजस बसें ।
जो तामसी गुण में बसें, वे जन अधोगति में फँसें ॥ १४। १८ ॥

कर्ता न कोई तज त्रिगुण, यह देखता द्रष्टा जभी ।
जाने गुणों से पार जब, पाता मुझे है जन तभी ॥ १४। १९ ॥

जो देहधारी, देह-कारण पार ये गुण तीन हो ।
छुट जन्म मृत्यु जरादि दुख से, वह अमृत में लीन हो ॥ १४। २० ॥

अर्जुन बोले
लक्षण कहो उनके प्रभो, जन जो त्रिगुण से पार हैं ।
किस भाँति होते पार, क्या उनके कहो आचार हैं ॥ १४। २१ ॥

श्री भगवान् बोले
पाकर प्रकाश, प्रवृत्ति, मोह, न पार्थ, इनसे द्वेष है ।
यदि हों नहीं वे प्राप्त, उनकी लालसा न विशेष है ॥ १४। २२ ॥

रहता उदासीन-सा गुणों से, होए नहीं विचलित कहीं ।
सब त्रिगुण करते कार्य हैं, यह जान जो डिगता नहीं ॥ १४। २३ ॥

है स्वस्थ, सुख-दुख सम जिसे, सम ढेल पत्थर स्वर्ण भी ।
जो धीर, निन्दास्तुति जिसे सम, तुल्य अप्रिय-प्रिय सभी ॥ १४। २४ ॥

सम बन्धु वैरी हैं जिसे अपमान मान समान है ।
आरम्भ त्यागे जो सभी, वह गुणातीत महान है ॥ १४। २५ ॥

जो शुद्ध निश्चल भक्ति से भजता मुझे है नित्य ही ।
तीनों गुणों से पार होकर ब्रह्म को पाता वही ॥ १४। २६ ॥

अव्यय अमृत मैं और मैं ही ब्रह्मरूप महान हूँ ।
मैं ही सनातन धर्म और अपार मोद-निधान हूँ ॥ १४। २७ ॥

ॐ तत्सदिति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥ १४ ॥

# हरिगीता अध्याय १५

पन्द्रहवा अध्याय

श्री भगवान् ने कहा –
है मूल ऊपर शाख नीचे पत्र जिसके वेद हैं ।
वे वेदवित् जो जानते अश्वत्थ - अव्यय - भेद हैं ॥ १५। १॥

पल्लव विषय, गुण से पली अध- ऊर्ध्व शाखा छा रहीं ।
नर- लोक में नीचे जड़एं कर्मानुबन्धी जा रहीं ॥ १५। २॥

उसका यहां मिलता स्वरूप न आदि मध्याधार से ।
दृढमूल यह अश्वत्थ काट असंग शस्त्र- प्रहार से ॥ १५। ३॥

फिर वह निकालो ढूंढकर पद श्रेष्ठ ठीक प्रकार से ।
कर प्राप्त जिसको फिर न लौटे, छूटकर संसार से ॥

मैं शरण उसकी हूँ पुरुष जो आदि और महान है ।
उत्पन्न जिससे सब पुरातन यह प्रवृत्ति- विधान है ॥ १५। ४॥

जीता जिन्होंने संग- दोष न मोह जिनमें मान है ।
मन में सदा जिनके जगा अध्यात्म- ज्ञान प्रधान है ॥

जिनमें न कोई कामना सुख- दुःख और न द्वन्द्व ही ।
अव्यय परमपद को सदा ज्ञानी पुरुष पाते वही । १५। ५॥

जिसमें न सूर्य प्रकाश चन्द्र न आग ही का काम है ।
लौटे न जन जिसमें पहुँच मेरा वही पर धाम है ॥ १५। ६॥

इस लोक में मेरा सनातन अंश है यह जीव ही ।
मन के सहित छै प्रकृतिवासी खींचता इन्द्रिय वही ॥ १५। ७॥

जब जीव लेता देह अथवा त्यागता सम्बन्ध को ।
करता ग्रहण इनको सुमन से वायु जैसे गंध को ॥ १५। ८॥

रसना, त्वचा, दृग, कान एवं नाक, मन- आश्रय लिये ।
यह जीव सब सेवन किया करता विषय निर्मित किये ॥ १५। ९॥

जाते हुए तन त्याग, रहते, भोगते गुणयुक्त भी ।
जानें न इसको मूढ मानव, जानते ज्ञानी सभी ॥ १५। १०॥

कर यत्न योगी आपमें इसको बसा पहिचानते ।
पर यत्न करके भी न मूढ़ अशुद्ध- आत्मा जानते ॥ १५। ११॥

जिससे प्रकाशित है जगत्, जो तेज दिव्य दिनेश में ।
वह तेज मेरा तेज है जो अग्नि में राकेश में ॥ १५। १२॥

क्षिति में बसा निज तेज से मैं प्राणियों को धर रहा ।
रस रूप होकर सोम सारी पुष्ट औषधि कर रहा ॥ १५। १३॥

मैं प्राणियों में बस रहा हो रूप वैश्वानर महा ।
पाचन चतुर्विधि अन्न प्राणापान- युत हो कर रहा ॥ १५। १४॥

सुधि ज्ञान और अपोह मुझसे मैं सभी में बस रहा ।
वेदान्तकर्ता वेदवेद्य सुवेदवित् मुझको कहा ॥ १५। १५॥

इस लोक में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं सर्वदा ।
क्षर सर्व भूतों को कहा कूटस्थ है अक्षर सदा ॥ १५। १६॥

कहते जिसे परमात्मा उत्तम पुरुष इनसे परे ।
त्रैलोक्य में रह ईश अव्यय सर्व जग पोषण करे ॥ १५। १७॥

क्षर और अक्षर से परे मैं श्रेष्ठ हूं संसार में ।
इस हेतु पुरुषोत्तम कहाया वेद लोकाचार में ॥ १५। १८॥

तज मोह पुरुषोत्तम मुझे जो पार्थ! लेता ज्ञान है ।
सब भाँति वह सर्वज्ञ हो भजता मुझे मतिमान् है ॥ १५। १९॥

मैंने कहा यह गुप्त से भी गुप्त ज्ञान महान् है ।
यह जानकर करता सदा जीवन सफल मतिमान् है ॥ १५। २०॥

पन्द्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

## हरिगीता अध्याय १६

सोलहवां अध्याय

श्री भगवान् ने कहा –
भय- हीनता, दम, सत्त्व की संशुद्धि, दृढ़ता ज्ञान की ।
तन- मन- सरलता, यज्ञ, तप, स्वाध्याय, सात्विक दान भी ॥ १६। १॥

मृदुता, अहिंसा, सत्य, करुणा, शान्ति, क्रोध- विहीनता ।
लज्जा, अचञ्चलता, अनिन्दा, त्याग तृष्णाहीनता ॥ १६। २॥

धृति, तेज, पावनता, क्षमा, अद्रोह, मान- विहीनता ।
ये चिन्ह उनके पार्थ! जिनको प्राप्त दैवी सम्पदा ॥ १६। ३॥

मद, मान, मिथ्याचार, क्रोध, कठोरता, अज्ञान भी ।
ये आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए पाते सभी ॥ १६। ४॥

दे मोक्ष दैवी, बाँधती है आसुरी सम्पत्ति ये ।
मत शोक अर्जुन! कर हुआ तू दैव- संपद् को लिये ॥ १६। ५॥

दो भाँति की है सृष्टि दैवी, आसुरी संसार में ।
सुन आसुरी अब पार्थ! दैवी कह चुका विस्तार में ॥ १६। ६॥

क्या है प्रवृत्ति निवृत्ति! जग में जानते आसुर नहीं ।
आचार, सत्य, विशुद्धता होती नहीं उनमें कहीं ॥ १६। ७॥

कहते असुर झूठा जगत्, बिन ईश बिन आधार है ।
केवल परस्पर योग से बस भोग- हित संसार है ॥ १६। ८॥

इस दृष्टि को धर, मूढ, नर, नष्टात्म, रत अपकार में ।
जग- नाश हित वे क्रूर- कर्मी जन्मते संसार में ॥ १६। ९॥

मद मान दम्भ- विलीन, काम अपूर का आश्रय लिये ।
वर्तें अशुचि नर मोह वश होकर असत् आग्रह किये ॥ १६। १०॥

उनमें मरण पर्यन्त चिन्ताएँ अनन्त सदा रहें ।
वे भोग- विषयों में लगे आनन्द उस ही को कहें ॥ १६। ११॥

आशा कुबन्धन में बँधे, धुन क्रोध एवं काम की ।
सुख- भोग हित अन्याय से इच्छा करें धन धाम की ॥ १६। १२॥

यह पा लिया अब वह मनोरथ सिद्ध कर लूंगा सभी ।
यह धन हुआ मेरा मिलेगा और भी आगे अभी ॥ १६। १३॥

यह शत्रु मैंने आज मारा, कल हनूंगा और भी ।
भोगी, सुखी, बलवान, ईश्वर, सिद्ध हूँ, मैं ही सभी ॥ १६। १४॥

श्रीमान् और कुलीन मैं हूं कौन मुझसे और हैं ।
मख, दान, सुख भी मैं करूँगा, मूढता- मोहित कहें ॥ १६। १५॥

भूले अनेकों कल्पना में मोह- बन्धन बीच हैं ।
वे काम- भोगों में फँसे पड़ते नरक में नीच हैं ॥ १६ । १६॥

धन, मान, मद में मस्त, ऐंठू निज- प्रशंसक अज्ञ हैं ।
वे दम्भ से विधिहीन करते नाम ही को यज्ञ हैं ॥ १६। १७॥

बल, काम क्रोध, घमण्ड वश, निन्दा करें मद से तने ।
सब में व अपने में बसे मुझ देव के द्वेषी बने ॥ १६। १८॥

जो हैं नराधम क्रूर द्वेषी लीन पापाचार में ।
उनको गिराता नित्य आसुर योनि में संसार में । १६। १९॥

वे जन्म- जन्म सदैव आसुर योनि ही पाते रहें ।
मुझको न पाकर अन्त में अति ही अधोगति को गहें ॥ १६। २०॥

ये काम लालच क्रोध तीनों ही नरक के द्वार हैं ।
इस हेतु तीनों आत्म- नाशक त्याज्य सर्वप्रकार हैं ॥ १६। २१॥

इन नरक द्वारों से पुरुष जो मुक्त पार्थ! सदैव ही ।
शुभ आचरण निज हेतु करता परमगति पाता वही ॥ १६। २२॥

जो शास्त्रविधि को छोड़, करता कर्म मनमाने सभी ।
वह सिद्धि, सुख अथवा परमगति को न पाता है कभी ॥ १६। २३॥

इस हेतु कार्य- अकार्य- निर्णय मान शास्त्र- प्रमाण ही ।
करना कहा जो शास्त्र में है, जानकर वह, कर वही ॥ १६। २४॥

सोलहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

## हरिगीता अध्याय १७

सत्रहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा –
करते यजन जो शास्त्रविधि को छोड़ श्रद्धायुक्त हो ।
हे कृष्ण! उनकी सत्त्व, रज, तम कौनसी निष्ठा कहो ॥ १७। १॥

श्रीभगवान् ने कहा –
श्रद्धा स्वभावज प्राणियों में पार्थ! तीन प्रकार से ।

सुन सात्त्विकी भी राजसी भी तामसी विस्तार से ॥ १७। २॥

श्रद्धा सभी में सत्त्व सम, श्रद्धा स्वरूप मनुष्य है ।
जिसकी रहे जिस भाँति श्रद्धा वह उसी- सा नित्य है ॥ १७। ३॥

सात्विक सुरों का, यक्ष राक्षस का यजन राजस करें ।
नित भूत प्रेतों का यजन जन तामसी मन में धरें ॥ १७। ४॥

जो घोर तप तपते पुरुष हैं शास्त्र- विधि से हीन हो ।
मद- दम्भ- पूरित, कामना बल राग के आधीन हो ॥ १७। ५॥

तन पंच- भूतों को, मुझे भी - - - देह में जो बस रहा ।
जो कष्ट देते जान उनको मूढ़मति आसुर महा ॥ १७। ६॥

हे पार्थ! प्रिय सबको सदा आहार तीन प्रकार से ।
इस भाँति ही तप दान मख भी हैं, सुनो विस्तार से ॥ १७। ७॥

दें आयु, सात्विकबुद्धि, बल, सुख, प्रीति एवं स्वास्थ्य भी ।
रसमय चिरस्थिर हृद्य चिकने खाद्य सात्विक प्रिय सभी ॥ १७। ८॥

नमकीन, कटु, खट्टे, गरम, रूखे व दाहक, तीक्ष्ण ही ।
दुख- शोक- रोगद खाद्य, प्रिय हैं राजसी को नित्य ही ॥ १७। ९॥

रक्खा हुआ कुछ काल का, रसहीन बासी या सड़ा ।
नर तामसी अपवित्र भोजन भोगते जूठा पड़ा ॥ १७। १०॥

फल- आश तज, जो शास्त्र विधिवत, मानकर कर्तव्य ही ।
अतिशान्त मन करके किया हो, यज्ञ सात्विक है वही ॥ १७। ११॥

हे भरतश्रेष्ठ! सदैव ही फल- वासना जिसमें बसी ।
दम्भाचरण हित जो किया वह यज्ञ जानो राजसी ॥ १७। १२॥

विधि- अन्नदान- विहीन जो, बिन दक्षिणा के हो रहा ।
बिन मन्त्र- श्रद्धा, यज्ञ जो वह तामसी जाता कहा ॥ १७। १३॥

सुर द्विज तथा गुरु प्राज्ञ पूजन ब्रह्मचर्य सदैव ही ।
शुचिता अहिंसा नम्रता तन की तपस्या है यही ॥ १७। १४॥

सच्चे वचन, हितकर, मधुर उद्वेग- विरहित नित्य ही ।
स्वाध्याय का अभ्यास भी, वाणी- तपस्या है यही ॥ १७। १५॥

सौम्यत्व, मौन, प्रसाद मन का, शुद्ध भाव सदैव ही ।
करना मनोनिग्रह सदा मन की तपस्या है यही ॥ १७। १६॥

श्रद्धा रहित हो योगयुत फल वासनायें तज सभी ।
करते पुरुष, तप ये त्रिविध, सात्विक तपस्या है तभी ॥ १७। १७॥

सत्कार पूजा मान के हित दम्भ से जो हो रहा ।
वह तप अनिश्चित और नश्वर, राजसी जाता कहा ॥ १७। १८॥

जो मूढ़- हठ से आप ही को कष्ट देकर हो रहा ।
अथवा किया पर- नाश- हित, तप तामसी उसको कहा ॥ १७। १९॥

देना समझ कर अनुपकारी को दिया जो दान है ।
वह दान सात्विक देश काल सुपात्र का जब ध्यान है ॥ १७। २०॥

जो दान प्रत्युपकार के हित क्लेश पाकर के किया ।
है राजसी वह दान जो फल आश के हित है दिया ॥ १७। २१॥

बिन देश काल सुपात्र देखे जो दिया बिन मान है ।
अथवा दिया अवहेलना से तामसी वह दान है ॥ १७। २२॥

शुभ ॐ तत् सत् ब्रह्म का यह त्रिविध उच्चारण कहा ।
निर्मित इसीसे आदि में हैं, वेद ब्राह्मण मख महा ॥ १७। २३॥

इस हेतु कहकर ॐ होते नित्य मख तप दान भी ।
सब ब्रह्मनिष्ठों के सदा शास्त्रोक्त कर्म- विधान भी ॥ १७। २४॥

कल्याण- इच्छुक त्याग फल ' तत्' शब्द कह कर सर्वदा ।
तप यज्ञ दान क्रियादि करते हैं विविध विध से सदा ॥ १७। २५॥

सद् साधु भावों के लिये ' सत्' का सदैव प्रयोग है ।
हे पार्थ! उत्तम कर्म में ' सत्' शब्द का उपयोग है ॥ १७। २६॥

' सत्' ही कहाती दान तप में यज्ञ में दृढ़ता सभी ।
कहते उन्हें ' सत्' ही सदा उनके लिये जो कर्म भी ॥ १७। २७॥

सब ही असत् श्रद्धा बिना जो होम तप या दान है ।
देता न वह इस लोक में या मृत्यु पर कल्यान है ॥ १७। २८॥

सत्रहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

# हरिगीता अध्याय १८

अठारहवां अध्याय

अर्जुन ने कहा –
संन्यास एवं त्याग- तत्त्व, पृथक् महाबाहो! कहो ।
इच्छा मुझे है हृषीकेश! समस्त इनका ज्ञान हो ॥ १८। १॥

श्रीभगवान् ने कहा –
सब काम्य- कर्मन्यास ही संन्यास ज्ञानी मानते ।
सब कर्मफल के त्याग ही को त्याग विज्ञ बखानते ॥ १८। २॥

हैं दोषवत् सब कर्म कहते त्याज्य कुछ विद्वान् हैं ।
तप दान यज्ञ न त्यागिये कुछ दे रहे यह ज्ञान हैं ॥ १८। ३॥

हे पार्थ! सुन जो ठीक मेरा त्याग हेतु विचार है ।
हे पुरुषव्याघ्र! कहा गया यह त्याग तीन प्रकार है ॥ १८। ४॥

मख दान तप ये कर्म करने योग्य, त्याज्य न हैं कभी ।
मख दान तप विद्वान् को भी शुद्ध करते हैं सभी ॥ १८। ५॥

ये कर्म भी आसक्ति बिन हो, त्याग कर फल नित्य ही ।
करने उचित हैं पार्थ! मेरा श्रेष्ठ निश्चित मत यही ॥ १८। ६॥

निज नियत- कर्म न त्यागने के योग्य होते हैं कभी ।
यदि मोह से हो त्याग तो वह त्याग तामस है सभी ॥ १८। ७॥

दुख जान कायाक्लेश भय से कर्म यदि त्यागे कहीं ।
वह राजसी है त्याग उसका फल कभी मिलता नहीं ॥ १८। ८॥

फल, संग, तज जो कर्म नियमित कर्म अपना मान है ।
माना गया वह त्याग शुभ सात्त्विक सदैव महान् है ॥ १८। ९॥

नहिं द्वेष अकुशल कर्म से, जो कुशल में नहिं लीन है ।
संशयरहित त्यागी वही है सत्त्वनिष्ठ प्रवीन है ॥ १८। १०॥

सम्भव नहीं है देहधारी त्याग दे सब कर्म ही ।
फल कर्म के जो त्यागता, त्यागी कहा जाता वही ॥ १८। ११॥

पाते सकामी देह तज फल शुभ अशुभ मिश्रित सभी ।

त्यागी पुरुष को पर न होता है त्रिविध फल ये कभी ॥ १८। १२॥

हैं पाँच कारण जान लो सब कर्म होने के लिये ।
सुन मैं सुनाता सांख्य के सिद्धान्त में जो भी दिये ॥ १८। १३॥

आधार कर्ता और सब साधन पृथक् विस्तार से ।
चेष्टा विविध विध, दैव , ये हैं हेतु पाँच प्रकार के ॥ १८। १४॥

तन मन वचन से जन सभी जो कर्म जग में कर रहे ।
हों ठीक या विपरीत उनके पाँच ये कारण कहे ॥ १८। १५॥

जो मूढ अपने आपको ही किन्तु कर्ता मानता ।
उसकी नहीं है शुद्ध बुद्धि न ठीक वह कुछ जानता ॥ १८। १६॥

जो जन अहंकृतिभाव बिन, नहिं लिप्त जिसकी बुद्धि भी ।
नहिं मारता वह मारकर भी, है न बन्धन में कभी ॥ १८। १७॥

नित ज्ञान ज्ञाता ज्ञेय करते कर्म में हैं प्रेरणा ।
है कर्मसंग्रह, करण, कर्ता, कर्म तीनों से बना ॥ १८। १८॥

सुन ज्ञान एवं कर्म, कर्ता भेद गुण अनुसार हैं ।
जैसे कहे हैं सांख्य में वे सर्व तीन प्रकार हैं ॥ १८। १९॥

सब भिन्न भूतों में अनश्वर एक भाव अभिन्न ही ।
जिस ज्ञान से जन देखता है, ज्ञान सात्त्विक है वही ॥ १८। २०॥

जिस ज्ञान से सब प्राणियों में भिन्नता का भान है ।
सबमें अनेकों भाव दिखते, राजसी वह ज्ञान है ॥ १८। २१॥

जो एक ही लघुकार्य में आसक्त पूर्ण- समान है ।
निःसार युक्ति- विहीन है वह तुच्छ तामस ज्ञान है ॥ १८। २२॥

फल- आश- त्यागी नित्य नियमित कर्म जो भी कर रहा ।
बिन राग द्वेष, असंग हो, वह कर्म सात्त्विक है कहा ॥ १८। २३॥

आशा लिये फल की अहंकृत- बुद्धि से जो काम है ।
अति ही परिश्रम से किया, राजस उसी का नाम है ॥ १८। २४॥

परिणाम, पौरुष, हानि, हिंसा का न जिसमें ध्यान है ।
वह तामसी है कर्म जिसके मूल में अज्ञान है ॥ १८। २५॥

बिन अहंकार, असंग, धीरजवान्, उत्साही महा ।
अविकार सिद्धि असिद्धि में सात्त्विक वही कर्ता कहा । १८। २६॥

हिंसक, विषय- मय, लोभ- हर्ष- विषाद- युक्त मलीन है ।
फल कामना में लीन, कर्ता, राजसी वह दीन है ॥ १८। २७॥

चंचल, घमंडी, शठ, विषादी, दीर्घसूत्री, आलसी ।
शिक्षा- रहित, पर- हानि- कर, कर्ता कहा है तामसी ॥ १८। २८॥

होते त्रिविध ही हे धनंजय! बुद्धि धृति के भेद भी ।
सुन भिन्न- भिन्न समस्त गुण- अनुसार कहता हूं अभी ॥ १८। २९॥

जाने प्रवृत्ति निवृत्ति बन्धन मोक्ष कार्य अकार्य भी ।
हे पार्थ! सात्त्विक बुद्धि है जो भय अभय जाने सभी ॥ १८। ३०॥

जिस बुद्धि से निर्णय न कार्य अकार्य बीच यथार्थ है ।
जाने न धर्म अधर्म को वह राजसी मति पार्थ! है ॥ १८। ३१॥

तम- व्याप्त हो जो बुद्धि, धर्म अधर्म ही को मानती ।
वह तामसी जो नित्य अर्जुन! अर्थ उलटे जानती ॥ १८। ३२॥

जब जन अचल धृति से क्रिया मन प्राण इन्द्रिय की सभी ।
धारण करे नित योग से, धृति शुद्ध सात्विक है तभी ॥ १८। ३३॥

आसक्ति से फल- कामना- प्रिय धर्म अर्थ व काम है ।
धारण किये जिससे उसी का राजसी धृति नाम है ॥ १८। ३४॥

तामस वही धृति पार्थ! जिससे स्वपन, भय, उन्माद को ।
तजता नहीं दुर्बुद्धि मानव, शोक और विषाद को ॥ १८। ३५॥

अब सुन त्रिविध सुख- भेद भी जिसके सदा अभ्यास से ।
सब दुःख का कर अन्त अर्जुन! जन उसी में जा बसे ॥ १८। ३६॥

आरम्भ में विषवत् सुधा सम किन्तु मधु परिणाम है ।
जो आत्मबुद्धि- प्रसाद- सुख, सात्त्विक उसी का नाम है ॥ १८। ३७॥

राजस वही सुख है कि जो इन्द्रिय- विषय- संयोग से ।
पहिले सुधा सम, अन्त में विष- तुल्य हो फल- भोग से ॥ १८। ३८॥

आरम्भ एवं अन्त में जो मोह जन को दे रहा ।
आलस्य नींद प्रमाद से उत्पन्न सुख तामस कहा ॥ १८। ३९॥

इस भूमि पर आकाश अथवा देवताओं में कहीं ।
हो प्रकृति के इन तीन गुण से मुक्त ऐसा कुछ नहीं ॥ १८। ४०॥

द्विज और क्षत्रिय वैश्य शूद्रों के परंतप! कर्म भी ।
उनके स्वभावज ही गुणों अनुसार बाँटे हैं सभी ॥ १८। ४१॥

शम दम क्षमा तप शुद्धि आस्तिक बुद्धि भी विज्ञान भी ।
द्विज के स्वभावज कर्म हैं, तन- मन- सरलता ज्ञान भी ॥ १८। ४२॥

धृति शूरता तेजस्विता रण से न हटना धर्म है ।
चातुर्य स्वामीभाव देना दान क्षत्रिय कर्म है ॥ १८। ४३॥

कृषि धेनु- पालन वैश्य का वाणिज्य करना कर्म है ।
नित कर्म शूद्रों का स्वभावज लोक- सेवा धर्म है ॥ १८। ४४॥

करता रहे जो कर्म निज- निज सिद्धि पाता है वही ।
निज- कर्म- रत नर सिद्धि सुन किस भाँति पाता नित्य ही ॥ १८। ४५॥

जिससे प्रवृत्ति समस्त जीवों की तथा जग व्याप्त है ।
निज कर्म से, नर पूज उसको सिद्धि करता प्राप्त है ॥ १८। ४६॥

निज धर्म निर्गुण श्रेष्ठ है, सुन्दर सुलभ पर- धर्म से ।
होता न पाप स्वभाव के अनुसार अपने कर्म से ॥ १८। ४७॥

निज नियत कर्म सदोष हों, तो भी उचित नहिं त्याग है ।
सब कर्म दोषों से घिरे जैसे धुएं से आग है ॥ १८। ४८॥

वश में किये मन, अति असक्त, न कामना कुछ व्याप्त हो ।
नैष्कर्म्य- सिद्धि महान तब, संन्यास द्वारा प्राप्त हो ॥ १८। ४९॥

जिस भाँति पाकर सिद्धि होती ब्रह्म- प्राप्ति सदैव ही ।
संक्षेप में सुन ज्ञान की अर्जुन परा- निष्ठा वही ॥ १८। ५०॥

कर आत्म- संयम धैर्य से अतिशुद्ध मति में लीन हो ।
सब त्याग शब्दादिक विषय, नित राग- द्वेष- विहीन हो ॥ १८। ५१॥

एकान्तसेवी अल्प- भोजी तन वचन मन वश किये ।
हो ध्यान- युक्त सदैव ही, वैराग्य का आश्रय लिये ॥ १८। ५२॥

बल अहंकार घमंड संग्रह क्रोध काम विमुक्त हो ।

ममतारहित नर शान्त, ब्रह्म- विहार के उपयुक्त हो ॥ १८। ५३॥

जो ब्रह्मभूत प्रसन्न- मन है, चाह- चिन्ता- हीन है ।
सम भाव सबमें साध, होता भक्ति में लवलीन है ॥ १८। ५४॥

मैं कौन कितना, भक्ति से उसको सभी यह ज्ञान हो ।
मुझमें मिले, मेरी उसे जब तत्त्व से पहिचान हो ॥ १८। ५५॥

करता रहे सब कर्म भी मेरा सदा आश्रय धरे ।
मेरी कृपा से प्राप्त वह अव्यय सनातन पद करे ॥ १८। ५६॥

मन से मुझे सारे समर्पित कर्म कर मत्पर हुआ ।
मुझमें निरन्तर चित्त धर, सम- बुद्धि में तत्पर हुआ ॥ १८। ५७॥

रख चित्त मुझमें, मम कृपा से दुःख सब तर जायगा ।
अभिमान से मेरी न सुनकर, नाश केवल पायगा ॥ १८। ५८॥

' मैं नहिं करूँगा युद्ध' तुम अभिमान से कहते अभी ।
यह व्यर्थ है निश्चय प्रकृति तुमसे करा लेगी सभी ॥ १८। ५९॥

करना नहीं जो चाहता है मोह में तल्लीन हो ।
वह सब करेगा निज स्वभावज कर्म के आधीन हो ॥ १८। ६०॥

ईश्वर हृदय में प्राणियों के बस रहा है नित्य ही ।
सब जीव यन्त्रारूढ माया से घुमाता है वही ॥ १८। ६१॥

इस हेतु ले उसकी शरण सब भाँति से सब ओर से ।
शुभ शान्ति लेगा नित्य- पद, उसकी कृपा की कोर से ॥ १८। ६२॥

तुझसे कहा अतिगुप्त ज्ञान समस्त यह विस्तार से ।
जिस भाँति जो चाहे वही कर पार्थ! पूर्ण विचार से ॥ १८। ६३॥

अब अन्त में अतिगुप्त है कौन्तेय! कहता बात हूँ ।
अतिप्रिय मुझे तू अस्तु हित की बात कहता तात हूँ ॥ १८। ६४॥

रख मन मुझी में, कर यजन, मम भक्त बन, कर वन्दना ।
मुझमें मिलेगा, सत्य प्रण तुझसे, मुझे तू प्रिय घना ॥ १८। ६५॥

तज धर्म सारे एक मेरी ही शरण को प्राप्त हो ।
मैं मुक्त पापों से करूंगा तू न चिन्ता व्याप्त हो ॥ १८। ६६॥

निन्दा करे मेरी, न सुनना चाहता, बिन भक्ति है ।
उसको न देना ज्ञान यह जिसमें नहीं तप- शक्ति है ॥ १८। ६७॥

यह गुप्त ज्ञान महान भक्तों से कहेगा जो सही ।
मुझमें मिलेगा भक्ति पा मेरी, असंशय नर वही ॥ १८। ६८॥

उससे अधिक प्रिय कार्य- कर्ता विश्व में मेरा नहीं ।
उससे अधिक मुझको न प्यारा दूसरा होगा कहीं ॥ १८। ६९॥

मेरी तुम्हारी धर्म- चर्चा जो पढ़एगा ध्यान से ।
मैं मानता पूजा मुझे है ज्ञानयज्ञ विधान से ॥ १८। ७०॥

बिन दोष ढ़ऊँढ़ए जो सुनेगा नित्य श्रद्धायुक्त हो ।
वह पुण्यवानों का परम शुभ लोक होगा मुक्त हो ॥ १८। ७१॥

अर्जुन! कहो तुमने सुना यह ज्ञान सारा ध्यान से ।
अब भी छुटे हो या नहीं उस मोहमय अज्ञान से ॥ १८। ७२॥

अर्जुन ने कहा –
अच्युत! कृपा से आपकी अब मोह सब जाता रहा ।
संशय रहित हूं सुधि मुझे आई, करूँगा हरि कहा ॥ १८। ७३॥

संजय ने कहा –
इस भाँति यह रोमाँचकारी और श्रेष्ठ रहस्य भी ।
श्रीकृष्ण अर्जुन का सुना संवाद है मैंने सभी ॥ १८। ७४॥

साक्षात् योगेश्वर स्वयं श्रीकृष्ण का वर्णन किया ।
यह श्रेष्ठ योग- रहस्य व्यास- प्रसाद से सब सुन लिया ॥ १८। ७५॥

श्रीकृष्ण, अर्जुन का निराला पुण्यमय संवाद है ।
हर बार देता हर्ष है, आता मुझे जब याद है ॥ १८। ७६॥

जब याद आता उस अनोखे रूप का विस्तार है ।
होता तभी विस्मय तथा आनन्द बारम्बार है ॥ १८। ७७॥

श्रीकृष्ण योगेश्वर जहां अर्जुन धनुर्धारी जहाँ ।
वैभव, विजय, श्री, नीति सब मत से हमारे हैं वहाँ ॥ १८। ७८॥

अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

*Shri Hari Gita Hindi*

pdf was typeset on December 17, 2022

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*